समाज सुधार

अपराध

(FIGHT AGAINST CRIME)

मन्मथनाथ गुप्त

किताब महल

इलाहाबाद

मूल्य 3)

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद
मुद्रक—एम० एल० पाण्डेय; इलाहाबाद प्रिंटिंग वर्क्स इलाहाबाद

BIBLIOGRAPHY

(इस पुस्तक में जिन पुस्तकों के नाम आये हैं)

1. *Criminology & Penology by Dr. John Lewis Gillin*
2. *Criminology by Dr. Garofalo.*
3. *Modern Theories of Criminality by Dequiros.*
4. *L'uomo delinquente by Cesare Lombroso.*
5. *Criminology by Horace Wyndham.*
6. *Psychopathology of everyday life by Freud.*
7. *Diagnostische Assoziationsstudien by Jung.*
8. *Notions on purification and taboo in society by Bhupendranath Dutt, A. M. D. Phil. (Calcutta Review 1940.)*
9. *Prisons by Dr. Hamblin Smith, M. A., M. D*
10. *Mutual Aid by Prince Kropotkin.*
11. *St. John. (Scriptures).*
12. *History of Criminal Law of England by Stephen.*
13. *Rationale of punishment by Oppenheimer.*
14. *Metaphysik der Sitten by Kant.*
15. *Imprisonment by Colonel Barker.*
16. *History of Penal Methods by George Ives*
17. *Protagoras.*
18. *Traite des delits et peines.*
19. *Leviathan.*
20. *Sacrament of Simple Folk by R. R. Marret.*

21. The State of Prisons by John Howard.

22. Panopticon or the Inspection-house by Jerem Bentham.

23. English Prison System by Sir Evelyn Ruggl Brise.

24. Criminal Prisons in London by Henry Mayhew.

25. London police courts by Thomas Holmes.

26. Psychoanalysis and Criminology by Paul Schille M.D., Ph.D.

27. Individual Delinquent by Dr. Healy.

28. Ends and means by Aldous Huxley.

29. Asylum by W. A. Seabrook.

30. Crime and Punishment by Mr. Wines.

31. Crime and Punishment by Becearia.

32. The criminal in relation to anthropology, jurispr aence and psychiatry by Cesare Lombroso.

33. Criminal Sociology by Enrico Ferri.

भूमिका

अपराधों के विरुद्ध युद्ध समाज हित के कार्यक्रम का एक आवश्यकीय अंग है। इस दृष्टि से इस विषय में अधिक से अधिक जानकारी हासिल करने की इच्छा मेरे दिल में जिस दिन मैं पहिले-पहल जेल गया, उसी दिन से रही। विभिन्न राजनैतिक मुक़द्दमों में मुझे सब मिलाकर उन्नीस वर्ष तक जेलों के अन्दर रहना पड़ा। इस बीच में मेरा परिचय हज़ारों अपराधियों से हुआ। जिनमें से सैकड़ों से घनिष्ठ परिचय प्राप्त हुआ। इसके साथ ही मैं अपराधविज्ञान पर पुस्तकें भी पढ़ता रहा, पुस्तकों में जो कुछ मैं पढ़ता उनको व्यवहारिक रूप से देखता रहा कि ठीक है कि नहीं, क्योंकि जेल से बढ़कर भला अपराधविज्ञान तथा दंड-विज्ञान की प्रयोगशाला क्या हो सकती है? आधुनिक से आधुनिक सिद्धान्त को भी मैंने इसी प्रकार कसौटी पर कसा। कसने का जो फल है वही इस पुस्तक में किया जा रहा है।

ऐसी पुस्तक में बहुत मौलिकता का दावा तो नहीं किया जा सकता किन्तु विशेषज्ञ पाठक को पता लग जायगा कि केवल इस पुस्तक में विषयों की विवेचन-पद्धति में ही नवीनता नहीं है बल्कि कहीं-कहीं मैं समझता हूँ मैंने बहुत ही मौलिक विचार तथा सुझाव (suggestions) पाठकों के समाने रक्खे हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, मेरी जान में किसी भी अपराधविज्ञान के लेखक को अपराधियों के छिपे से छिपे विचारों के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने का इतना अवसर नहीं मिला जितना मुझे मिला। अपराधविज्ञान के विषय में अक्सर जेल, अदालत तथा पुलिस कर्मचारियों ने ही लिखा है। इनको अपराधी को इतने घनिष्ठ रूप से जानने का मौक़ा नहीं मिलता जितना मुझे मिला।

—मन्मथनाथ गुप्त

विषय-सूची

अपराध का निर्णय

सज़ा का विधान तथा विकास

पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक—स्मृतियों में सज़ा का विधान—पुराणों में कारागार —सज़ा का आदिम रूप-बदला—सामूहिक बदला (*Lynching*) —सज़ा के सम्बन्ध में सेनेका का मत—सज़ा की हिन्दू धारणा—इन्द्र और अहल्या का दृष्टान्त—अन्य उदाहरण—क़ानून की चिरस्थायिता की धारणा —पुराने अहदनामे में आँख के बदले आँख—सज़ा के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कैन्ट का मत—कैन्ट के सिद्धान्त की जाँच—(*poetic punishment*) —जुर्माने का रिवाज—सैक्सनों तथा नार्मनों में अंगच्छेद की प्रथा—यहूदियों की *Sanctuary* प्रथा—बदले पर रोकथाम—गुलाम बनाने की प्रथा से क़ैद करने की प्रथा का मिलान—सज़ा के तीन तरह के उद्देश्य—सज़ा से नसीहत होती है या नहीं—सज़ा-पद्धति की मौलिक आलोचना—साधारण अपराध नाम के लिये—क़ानून में शासक-श्रेणी के साथ पक्षपात —क्रान्तिकारी फ्रान्स की चेष्टा कि क़ानून में सब बराबर हो जायँ—कोद नापलेयँ (*Code Napoleon*)—सज़ा-पद्धति पर और विचार—सज़ा से सुधार की अनिवार्यता का सिद्धान्त—लेखक का मत कि सज़ा से क्या फलाफल होता है—सज़ा का(*conditioned reflex*) सिद्धान्त—सज़ा की अनिवार्यता ज़रूरी—पुलिस, अदालत का सुधार आवश्यक—पुलिस-अदालत की पद्धति में ही ग़लती—गवाह क्यों झूठ बोलते हैं—सज़ा के अलावा भी जेल के अन्य उपयोग—जेल में रहना ही सज़ा है—जेल में केवल क़ैदी रहें, जेल में फाँसी न दी जाय—मुकद्दमे का फैसला जल्दी हो—अधिक से अधिक लोग मुक़द्दमे के फैसले से पहिले ज़मानत पर रहें—हवालात का समय भी क़ैद में गिना जाय—सज़ा हो न हो, अपराधी पर रोक के सम्बन्ध में सब एकमत—क़ैद की अनिवार्यता—हाब्सकृत क़ैद की परिभाषा—सज़ाओं में क़ैद की प्रथा सबसे नई—एस्किमोलोगों में सज़ा के तौर पर व्यंग—सज़ा के अनन्त प्रकार—दंड के विभिन्न सिद्धान्त—सज़ा देने में अड़चनें—सज़ा न देने में

जेल की पद्धति

फ्रान्स और रूस का कालापानी—विलियम पेन का प्रयोग—ओबार्न पद्धति—जेल की दो पद्धतियाँ याने *separation* और *solitary* पद्धतियाँ—कड़ी मशक़्क़त—जेल में मशक़्क़त के उद्देश्य—परिश्रम हो किन्तु उत्पादक नहीं यह मत—जेल क़ानून में सुधार—और सुधार—इंगलैंड की जेलों का वर्गीकरण—स्टार श्रेणी—जेल में बातचीत पर रोक—इंगलैंड की जेल में क़ैदी की दिनचर्या—*local* जेल और *convict Jail*—जहाँ तक हो सके जेल नहीं—लम्बी मीयाद में ही सुधार के प्रयोग संभव—लम्बी मीयादवाले क़ैदियों का वर्गीकरण—किस श्रेणी के क़ैदी किस जेल में—पक्के अपराधियों की समस्या—पार्कहार्स्ट जेल—कैम्पहिल—अनिश्चित सज़ा—बालक-अपराधी—बाल-अपराधियों पर क़ानून—रटहिल की जेल—बाल-अपराधियों के लिये व्यवस्था—बोरस्टाल संस्थायें—बोरस्टाल की व्यवस्था कैसी है—बोरस्टाल के क़ैदी—बोरस्टालों का सज़ाई वर्ग—कम-उम्र स्त्री अपराधी—बाल-अपराधियों के लिये विशेष अदालतें—बाल-अपराधी पर समाज के ध्यान का अभाव—अपराध-जगत में स्त्री का भाग—हत्या में स्त्रियों का स्थान—वैकल्पिक सज़ा (*conditional reflex*)—अपराधी के साथ मानवीय व्यवहार—जेलों के स्वास्थ्य में तरक़्क़ी—जेल में सख़्ती, प्रलोभन, चरित्र—सख़्ती से सुधार—जेल में सामाजिक वृत्तियों को उत्तेजना देने की चेष्टा—बर्मिंघम जेल में सामाजिक वृत्तियों को उत्तेजित करने की व्यवस्था—रूस में प्रयोग—रूसी जेलों में स्वायत्त-शासन—*pecule* या *gratuity* पद्धति—जेल में इकरसता को दूर किया जाय—सुधार के उपाय के रूप में बेलजियम की पद्धति—कोठरी-पद्धति पर आलोचना—कोठरी-पद्धति का विरुद्ध पक्ष—कोठरी में लगातार रहने से दिमाग में खलल—सभी सज़ायें अन्तिम तौर पर शारीरिक—क्या कोठरी से मानसिक पतन रुकता है?—क़ैदी को खेल आदि देकर बात-चीत के विषय दिये जायँ—अधिक से अधिक पत्र, मुलाक़ात—अमेरिका में क़ैदियों के निकाले हुए अख़बार—ओबार्न न्युयार्क में स्वायत्त-शासन के प्रयोग—अप्राकृतिक व्यभिचार और कोठरी-पद्धति—अमेरिका तथा इंगलैंड की जेलों में अप्राकृतिक व्यभिचार—वर्त्तमान जेल-पद्धति में

अपराध और पागलपन

वेश्यावृत्ति तथा अपराध

भारतीय जेल-पद्धति

१

अपराध का निर्णय

अपराध से अवतार (पैग़म्बर) आदि की लड़ाई

समाज के लिये अपकारी व्यक्तियों के विषय में परेशानी केवल आज के समाजशास्त्रियों (*sociologists*) को ही नहीं है, बल्कि जब से समाज की उत्पत्ति हुई, चाहे उत्पत्ति के समय वह कितना ही छोटा, अज्ञता परिचालित तथा सीमित रहा हो, इस परेशानी से बुद्धिमान तथा सयाने लोग नहीं बचे। कभी-कभी तो बतलाया जाता है कि समाज के लिये इन अपकारी व्यक्तियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि स्वयं धरित्री उनसे पीड़ित हो गई, फिर तो भूभार उतारने के लिये साधुओं के परित्राण तथा दुष्कृतों के विनाश के लिये भगवान को स्वर्ग का उद्यान छोड़कर हमारी धूल-कीचड़ से भरी पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ा। हिन्दुओं में भूभार उतारनेवाले ऐसे दस औतार गिनाये गये हैं, जिनमें से नौ हो चुके, और दसवाँ अभी होने को बाक़ी है। सभी धर्मों में हम किसी न किसी रूप में दुष्कृतों के विनाश के इस विचार को पाते हैं। पैग़म्बरगण सच्चाई तथा ईमान का पलड़ा भारी करने के लिये ही तो यहाँ आते थे। कोई पैग़म्बर इसके लिये उपदेश देकर ही निवृत्त होकर चला जाता है, वह इसकी परवा नहीं करता कि उसके मूल्यवान उपदेश को किसी ने अपनाया कि नहीं, किन्तु कोई ऐसा अक्खड़ पैग़म्बर भी होता है, कि वह फौजों की अक्षौहिणियाँ इकठ्ठी कर दुष्कृतों के विनाश करने के लिये ताल ठोककर चल देता है। जो कुछ भी हो, मालूम होता है ये सभी अवतार तथा पैगम्बर अ

काम में असफल रहे। विशुद्ध संस्कृत, इबरानी, तथा अरबी पुस्तकों में लिखी हुई पुस्तकों की गवाही को अस्वीकारकर हम यह तो कह नहीं सकते कि उन्होंने कुछ नहीं कर पाया, किन्तु हम यदि यह सन्देह करें कि दुष्कृतों का विनाश होने पर भी कुछ दुष्कृत रहस्य-मय तरीके से हर बार अवश्य बच जाते थे, तो शायद हम बहुत बड़े नास्तिक न कहे जायेंगे। बुरे काम करनेवाले दुनिया में अब भी मौजूद हैं, और शायद उनकी संख्या बहुत कम नहीं है। यदि हम उस कहानी को प्रमाण मानें जिसमें बतलाया गया कि चोरी करने के लिये फाँसी पर चढ़ने को उद्यत एक व्यक्ति ने राजा से जब कहा था कि यदि वह व्यक्ति जिसने कभी चोरी नहीं की है खेत में मुहर बो दे तो मुहर के पेड़ निकल आयेंगे तो इस पर लालची स्वभाव राजा तथा राजा के सब मुसाहब मुहर बोने को तैयार होने के बजाय बगलें झाँकने लगे थे, और अन्त को चोर ही छोड़ दिया गया था; तो हम देखेंगे कि चोर के मौसेरे भाइयों तथा बहिनों की संख्या बहुत अधिक है। फिर हमारे ज़माने में रामायण, महाभारत या मुहम्मद साहब के युग की तरह अपराधियों ने किसी भौगोलिक क्षेत्र को जैसे लंका, सोडम (*Sodom*) आदि को अपनाकर उन पर हमला करने की उच्चाकांक्षा रखनेवालों का काम आसान नहीं कर दिया कि उनके नगर, टापू या देश को घेरकर आग लगा दी जाय, या वहाँ के रहनेवाले सब तलवार के घाट उतार दिये जायँ, बस काम खतम हो गया। इस युग के ये दुष्कृत या राक्षस, मालूम होता है कि हमीं लोगों में, देवताओं में, या मुसल्लम ईमानों में मौजूद हैं। उनकी शक्लों को देखकर यह कहना संभव नहीं कि हममें से वे कौनसे हैं, क्योंकि वे हमारी शक्ल को धारण किये हुए हैं, हमारी ही तरह वे हमारी भाषा बोलते हैं, न उनकी एड़ी उलटी है, अक्सर वे नाक से भी नहीं बोलते; वे हमी में हमारी तरह रहते हैं यहाँ तक कि हमारे मकान में तथा

परिवार में मौजूद हैं, कौन जानता है शायद हम ही हैं।

समस्या का स्वरूप (*formulation of the problem*)

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे हम जिस समस्या पर वैज्ञानिक विवेचन करने जा रहे हैं उसका स्वरूप कुछ सामने आता है, किन्तु समस्या इससे भी कहीं जटिल हो जाती है जब कोई पूछ बैठता है क्यों साहब अपराध है क्या बला। जो बात एक देश में रोजमर्रे की बरती जानेवाली मामूली बात है, दूसरे देश में वही अपराध है, बल्कि दो देश में ही क्यों एक ही देश में एक कार्य के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण एक साथ मौजूद हैं। एक मोटा-सा उदाहरण लिया जाय, हमारे ही देश में एक हिन्दू चाहे तो दस शादी कर सकता है, वह अपराधी न होगा, किन्तु एक इसाई यदि दो भी शादी करे तो उसे जेल में जाकर चक्की पीसनी पड़ेगी। खैर हमारे देश को जाने दिया जाय क्योंकि कोई भी कह सकता है, कि न तो भारत एक देश ही है न भारतीय एक जाति हो इसलिये यहाँ की मिसाल ठीक नहीं। हम इस तर्क में न पड़ते हुए भी दिखा सकते हैं कि अपराध क्या है इसकी अन्यत्र भी न तो कोई सार्वदेशिक न कोई सार्वकालिक परिभाषा है न रही। अमेरिका को ही लिया जाय, वहाँ वोलस्टेड एक्ट के अनुसार शराब बनाना, बेचना यहाँ तक कि पीना भी १९१९ में अपराध क़रार दिया गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ न परिवर्तन होते हुए भी जो बात कल तक एक शरीफ़ आदमी के करने योग्य थी, वह बात इस एक्ट के पास होते ही ग़ैरक़ानूनी नहीं, अपराध और चोरी की श्रेणी का अपराध (*felony*) हो गया। मज़ेदार बात यह है कि यह क़ानून केवल ५ दिसम्बर १९३३ तक ही रहा, शराबियों के विपुल जनमत के आगे यह क़ानून न टिक सका, शराब पीना, और बेचना, बनाना एक बार फिर क़ानूनी हो

गया। इससे दो बातें सामने आईं, एक तो रोमनों की वह कहावत "क़ानून नहीं तो अपराध नहीं" सत्य जँचती है, क्योंकि क़ानून नहीं था तो शराब बेचना अपराध न था, क़ानून हुआ तो अपराध हो गया, फिर क़ानून न रहा तो अपराध न रहा। दूसरी यह बात कि क़ानून से सदाचार से अनिवार्य रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है, या ऐसा हम क्यों कहें, हम यह भी तो कह सकते हैं कि सदाचार (*morality*) की धारणा परिवर्तनशील है। इस प्रकार हम एक बुनियादी प्रश्न पर पहुँच जाते हैं कि यदि सदाचार की धारणा भी परिवर्तनशील मान ली जाय, तो उसमें होनेवाले परिवर्तन का स्वरूप तथा नियम क्या हैं, कोई नियम हैं या नहीं ?

सदाचार और क़ानून में प्रभेद

हम पहिले यह निर्विवाद रूप से दिखला लें कि क़ानून और माने हुए सदाचार में अक्सर बड़ा मतभेद हो जाता है, फिर हम आगे बढ़ेंगे। झूठ बोलना सभी सदाचार के अनुसार बुरा या अनैतिक तथा अधार्मिक है, किन्तु किसी भी देश के क़ानून में झूठ बोलना अपराध नहीं है। हाँ, यदि अदालत में खड़े होकर कोई झूठ बोले तो उसकी बात और है। उस हालत में वह झूठी शहादत का दोषी समझा जायगा। इसी प्रकार सभी धर्म तथा नीति के अनुसार वेश्या होना या वेश्यागमन करना बुरा समझा जायगा किन्तु क़ानूनन न तो वेश्या होना ही अपराध है, न वेश्या के पैरों पर जाकर शराब पीकर पड़े रहना। भुट्टे की एक बाली चुरा लेना क़ानूनन अपराध है, किन्तु वेश्या होकर स्वयं बिगड़ना तथा दूसरों को बिगाड़ने में क़ानून कोई बाधा खड़ा नहीं करता। फिर भी यदि एक साधारण व्यक्ति से पूछा जाय कि भुट्टे की एक बाली को चुरा लेना अधिक खराब है कि वेश्या होना या वेश्यागमन करना, तो वह बड़ी आसानी से फट से कह देगा कि वेश्या होना या वेश्यागमन

करना ही अधिक बुरा है। वर्त्तमान समाजपद्धति में कोई भी लड़की का पिता अपनी लड़की के विषय में यह सुनने के बजाय कि वह कुलटा हो गई, यह सुनना अधिक पसन्द करेगा कि वह जब तब चोरी करती है। इससे स्पष्ट है क़ानून से नीति का क्या सम्बन्ध है यह हमेशा समझ में नहीं आता, याने स्पष्ट नहीं है। इस प्रकार हम यह भी देख चुके कि प्रचलित धारणा के अनुसार जो काम अधिक अनैतिक है वह कार्य जुर्म न करार दिये जाने पर भी उस से कम अनैतिक समझा जानेवाला कार्य जुर्म करार दिया जा सकता है। क़ानून को इस प्रकार हमेशा नीति या जनमत के द्वारा समझना असंभव है। इसी उलझन में पड़कर कई अपराध-विज्ञान के ज्ञाताओं ने यह कहकर सन्तोष कर लिया है कि "अपराध और दुर्नीति के बीच में जो लाइन है, वह सीधी नहीं, बल्कि बिल्कुल अनियमित और टेढ़ीमेढ़ी है, यह अनियमितता तथा टेढ़ामेंढ़ापन इस बात पर निर्भर है कि उस ज़माने के लोगों के विश्वास क्या हैं, उनका नैतिक विकास कहाँ तक हो चुका है, तथा वहाँ की जनता में आलोचनात्मक विश्लेषण का बोलबाला कितना है।"+

कहना न होगा कि इस कथन से हमारे निकट नीति तथा अपराध का सम्बन्ध अधिक स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि इस सम्बन्ध में व्यवहृत विश्वास, नैतिक विकास तथा आलोचनात्मक विश्लेषण यह तीनों शब्द अस्पष्ट हैं, उनका कोई परिमाण ही नहीं हो सकता। इस बात से फिर भी एक बात स्पष्ट है कि वे जो तीनों चीज़ नीति और अपराध के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये गिनाते हैं, वे तीनों मुख्य रूप से सूक्ष्म मानसिक (*abstract*) चीज़ें हैं, याने उनके नज़दीक आर्थिक परिस्थिति, जैसे उत्पादन पद्धति का कोई महत्व नीति या क़ानून के निर्णायक के रूप में नहीं है या है तो गौण।

+*Criminology and penology by Dr. John Lewis Gillin, p.14.*

हम इस बात को बाद को दिखलायेंगे कि यह दृष्टिकोण ग़लत है।

पाप और अपराध

आज दिन पाप और अपराध में भले ही कोई सम्बन्ध दृष्टि-गोचर न हो किन्तु जिस समय समाज पर पाप-पुण्य को क़रार देनेवाली पुरोहित-श्रेणी का राज्य था, उस समय पाप ही अपराध था। हम यदि असभ्य लोगों के रिवाज़ों की जाँच करेंगे तो पायेंगे कि उनमें जो बात टाबू (निषिद्ध) थी, वही बात अपराध भी थी। यह समझा जाता था कि यदि कोई अपराध करता है, तो उसको बलि चढ़ाकर, यहाँ तक कि उसके परवार को बलि चढ़ाकर देवता के क्रोध को शान्त करना चाहिये, किन्तु धीरे-धीरे उत्पादन की पद्धति बदलती गई, नई परिस्थितियों में नई शासक श्रेणियाँ आईं। एक मनुष्य को क्या करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, इस सम्बन्ध में इस नई शासक-श्रेणी की धारणा पुरोहितों से पृथक होती गई, उन्हीं की चली। इस प्रकार पाप और अपराध के बीच की खाई बढ़ती ही गई, और अब यह परिस्थिति पहुँची है कि उनका कोई विशेष सम्बन्ध ही नहीं रह गया। गोमांसभक्षण एक हिन्दू तथा मिश्रदेशीय के लिये बड़ा भारी पाप तथा जब उनके पुरोहितों की शासक-श्रेणी चलती थी तो वह एक बड़ा अपराध भी था, किन्तु अब सैकड़ों हिन्दू घर में पैदा लोग गोमांस खाते हैं। इसके लिये उन्हें जेल नहीं जाना पड़ता, न सार्वजनिक रूप से उनका सिर मुँड़वाकर उन्हें गाँव से बाहर निकाल दिया जाता है। अधिक से अधिक उनका सामाजिक बायकाट किया जा सकता है, सो उससे उनका कुछ बिगड़ेगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अब धर्मध्वजियों को इस मामले में तथा इसके सदृश मामलों में यह कहकर तसल्ली कर लेनी पड़ती है कि परलोक में धर्मविरोधियों को उसकी सज़ा मिलेगी, किन्तु इतिहास को देखने से पता लगेगा

कि ये धर्म के रक्षक हमेशा परलोक पर इतना विश्वास नहीं रखते थे। जिस समय कट्टर इसाई पादरियों की चलती थी उस समय कोई इसाई यदि धार्मिक मामले में स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन करता, यहाँ तक कि प्रचलित मत के विरुद्ध यही कहता कि बाईबल में अमुक बात है या नहीं है, तो उसे *heresy* के लिये जिन्दा जला तक दिया जाता था। राष्ट्र और गिर्जे (*state and church*) के बीच यूरोप में जो सैकड़ों साल तक संघर्ष होता रहा उसका असली स्वरुप यही है कि नई शासक श्रेणी याने सामन्त श्रेणी पुरानी शासक श्रेणी से अपना छुटकारा कराना चाहती थी। पुरानी शासक श्रेणी में छोटे सामन्त (*feudal lords*) थे, जिन्हें अपनी सत्ता को बर्बरों के आक्रमण से बचाने के लिये तथा सब को एक सूत्र में बाँधकर अ-इसाई जातियों के सामने संयुक्तमोर्चा उपस्थित करने के लिये पुरोहितों-पादरियों की सहायता की आवश्यकता महसूस हुई थी। इसीलिये इस सहायता के बदले उन्हें धर्म के विरुद्ध सब तरह के विचारों को दबाना पड़ा। बाद को जब यह आवश्यकता जाती रही और वे स्वयं एक दूसरे को जज्बकर अपेक्षाकृत बढ़े तथा बलिष्ठ हो गये, तो उन्होंने पुरोहितों की हर बात से बहुत कुछ हद तक हाथ खींच लिया। हम इस प्रकार देखते हैं कि पुराकाल में मिश्र, भारत, पोलिनेशिया, चीन और मेक्सिको में ही पुरोहितों का राज्य नहीं रहा, बल्कि सभी देशों पर उन्होंने शासन किया। मजे की बात यह है जब उनका राज्य रहा तब तो उनका चलता ही रहा, किन्तु इसके बाद भी उत्पादन पद्धति में क्रान्ति के कारण जब उनका प्रत्यक्ष रूप से राज्य नहीं भी रहा, तो भी वे अप्रत्यक्ष रूप से अपना प्रभाव जमाये रहे। ऐसा करने में वे इस कारण समर्थ हुए कि उन्होंने सूक्ष्म प्रचार कार्य द्वारा—वह प्रचारकार्य जिसके आगे आधुनिक से आधुनिक साम्राज्यवादी, नाज़ी तथा फैसिस्ट प्रचार-

कार्य भी झेंप जायगा, और कुछ न मालूम होगा—आम जनता तथा शासक श्रेणी में अपनी बातों को अकाट्य करके प्रचार कर रक्खा था। इनसे छुटकारा करना मुश्किल था, इसलिये शास्त्र से दुर्बल हो जाने पर भी, तथा देवता अब उन्हें पहिले की तरह आ आकर मदद न करने पर भी, वे शास्त्र के बल पर राज्य करते रहे। फिर राजदंड भले ही उनसे छिन गया हो, उस ज़माने की जो कुछ विद्या थी, क्या चिकित्साशास्त्र, क्या ज्योतिष, क्या गणित, क्या कविता, सब पर इनका एकाधिपत्य रहा, इसलिये राजा न होने पर भी वे राजा के सलाहकार हुए।

क़ानून में शासक श्रेणी के साथ पक्षपात

यह तो एक लम्बी कहानी है, किन्तु इन्हीं कारणों से इन धर्म के ठेकेदारों का हरेक देश में बहुत दिनों तक बोलबाला रहा, सच बात तो यह है अब भी इनका यह राज्य बहुत कुछ क़ायम है। राजनैतिक दल या श्रेणियाँ अपनी बिगड़ी को बनाने के लिये, या अपने बने बनाये श्रेणीस्वार्थ को और बढ़ाने तथा पुख़्ता करने के लिये अब भी धार्मिक नारों की आड़ लेते हैं, और यह तरीक़ा अब भी काम दे जाता है। हरेक जाति की स्मृति पुराणों में इसीलिये हम देखते हैं कि वहाँ के ब्राह्मणों के लिये कम सज़ा का विधान है, धार्मिक सज़ा के विधानों में *isonomia* या क़ानून के सामने बराबरी का हमको कहीं पता नहीं मिलता। ब्राह्मणों के क़ानून में ब्रह्महत्या एक साधारण व्यक्ति की हत्या से कहीं बढ़कर भयंकर अपराध है, तथा एक ब्राह्मण वह चाहे कुछ भी करे मृत्युदंड का हक़दार नहीं माना गया है। हम इस विषय पर समय नष्ट नहीं करेंगे हम केवल इतना ही कहकर आगे बढ़ जायेंगे कि ये ब्राह्मण-पुरोहित भोले-भाले थे, इन्होंने खुल्लमखुल्ला अपनी श्रेणी के लिये ईश्वर और न्याय के सामने विशेष व्यवहार का दावा किया है,

किन्तु सच बात तो यह है कि आज के क़ानून में खुल्लमखुल्ला क़ानून के सामने बराबरी का सिद्धान्त मान लिये जाने पर भी व्यवहारिक रूप में कोई बराबरी नहीं है। विभिन्न देशों के आधुनिक क़ानूनों को अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि उसमें ब्राह्मणों-पुरोहितों-सयानों के क़ानून की तरह शासक श्रेणी के प्रत्येक सदस्य के लिये विशेष व्यवहार का न तो विधान ही है न गुंजाइश, किन्तु जहाँ पर शासक श्रेणी के श्रेणी-स्वार्थ पर आघात होने की आशंका है, या होती है, वहाँ क़ानून निष्पक्षता या *isonomia* का चोगा उतारकर अपने असली रूप में प्रकट होता है। अस्तु, हमें इस विषय पर आगे कई बार अपनी राय प्रकट करने का मौक़ा मिलेगा।

अपराध की परिभाषा में कठिनता

अब तक हम जो कुछ कह आये उससे इस बात में तो कोई सन्देह नहीं रहा कि पाप (*sin*) तथा अनीति (*immorality*) की तरह ही अपराध शब्द का अर्थ निरन्तर परिवर्तनशील है, इसकी कोई सार्वदेशिक या सार्वकालिक परिभाषा नहीं है। यह एक बड़ी अजीब परिस्थिति है जब अपराध की परिभाषा ही नहीं हो सकती, तो आगे क्या बढ़ा जाय, अपराधविज्ञान का तो यहीं ख़ातमा हो गया। इस उलझन से बचाने के लिये अपराधविज्ञान विद्वानों ने तरह-तरह की कल्पना तथा तर्कों की अवतारणा की है।

गारोफालो की परिभाषा

अपराधविज्ञान के सुप्रसिद्ध इटालियन लेखक गारोफालो ने इसी उधेड़बुन में अपनी पुस्तक 'अपराधविज्ञान' में अपराध शब्द की एक ऐसी परिभाषा की तलाश की जिसमें ऐसे सभी कार्य आ जायँ जिनको कोई भी सभ्य समाज गवारा नहीं कर सकता, और जिनको वह सज़ा देकर बन्द करने की चेष्टा अवश्य करेगा। उसने ऐसे

कार्य को "प्राकृतिक अपराध" की आख्या दी। गारोफालो ने मनुष्य जाति की विभिन्न शाखाओं के विभिन्न युग के कानूनों का अध्ययन-कर इस बात को जानने की चेष्टा की कि उनसे कुछ ऐसी बातों को निकाल बाहर किया जाये जो सभी देशों में तथा सभी कालों में वर्जित समझी जाती हों। साथ ही उसने मानवीय भावुकता (*sentiment*) की बुनियाद का भी विश्लेषण किया, जिससे मालूम होता है कि एक कार्य जो एक देश में ठीक समझा जाता है, वही दूसरे देश में वर्जित क्यों माना जाता है, तथा एक ही जाति में एक काल में उपादेय तथा दूसरे काल में हेय क्यों समझा जाता है। गारोफालो ने इन विषयों पर विचार तो किया, किन्तु मालूम होता है कि वे इस अध्ययन में अधिक गहराई तक न जा सके। इस बात में यह बात बाधक हुई कि वे बराबर एक प्रतिक्रियावादी सरकार के नौकर रहे, कभी मैजिस्ट्रेट तो कभी जज, या न्याय मन्त्री के सलाहकार। वे भला कैसे ऐसे उपसंहारों पर पहुँच सकते थे, जिनसे उनकी सरकार की कलई खुल जाती। हमें इसीलिये आश्चर्य नहीं होता कि खोज की तीव्र इच्छा तथा अध्यवसाय होते हुए भी वे सत्य के इर्द गिर्द जाकर भी अँधेरे में टटोलते रह गये।

गारोफालो की कसौटी—खरापन और दया

हम पहिले बता दें कि गारोफालो किस नतीजे पर पहुँचे। गारोफालो बड़ी खोज के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि जिन दो भावुकताओं पर चोट करना प्रत्येक देश तथा काल में अपराध समझा गया है वे हैं खरापन (*probity*) और दया (*pity*)। इसके साथ ही वे कहते हैं किसी बात को अपराध करार देने के लिये यह आवश्यक है कि वह समाज के लिये हानिकारक हो। गारोफालो के विचार में यही प्राकृतिक परिभाषा समाजशास्त्रीय (*sociological*) परिभाषा भी है। संक्षेप में अपराधविज्ञान के दिग्गज पंडित

गारोफालो का यही मत है। अब हम यदि इस पर विचार करें तो देखेंगे कि गारोफालो ने चीज़ को साफ़ करने के बजाय उसको और उलझा दिया। यदि हम देखना चाहें कि यह खरापन या सच्चाई तथा दया हैं कौन बला, तो देखेंगे कि स्वयं इनकी कोई सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक परिभाषा नहीं है। प्रत्येक देश तथा काल में इनके सम्बन्ध की धारणा विभिन्न रही है। एक धार्मिक मुसलमान के लिये बक़रीद के दिन एक गाय या बकरे की कुरबानी करते समय कोई दया का सवाल नहीं उठता, किन्तु एक जैनी के निकट इसका दूसरा ही मूल्य होगा। शायद वह एक बकरे के गले पर छुरी फिरते देखकर रो दे, और मैं समझता हूँ स्वत: रो पड़ना किसी की भावुकता पर आघात होने का क़रीब-क़रीब अचूक परिचय है। इसी प्रकार खरापन की धारणा में भी प्रभेद है, एक इसाई पति दो स्त्री से शादीकर खरापन से पतित होकर पक्का बेईमान हो जाता है, किन्तु एक हिन्दू के खरेपन में या एक मुसलमान के खरेपन में इससे कोई फ़र्क़ नहीं आता। इसी प्रकार के सैकड़ों और उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। इसलिये खरापन तथा दया के आधार पर अपराध की परिभाषा ढूँढ़ना विडम्बना-मात्र है। इसके साथ ही जो कहा गया कि जो कार्य समाज के लिये हानिकर है वह अपराध है, यह बात बहुत कुछ हद तक ठीक होते हुए भी ग़लत इसलिये है कि सारे समाज के लिये हानि लाभ कम देखा जाता है, समाज की जो शासक श्रेणी है, उसीकी भलाई की दृष्टि से क़ानून बनते हैं, तथा उन पर अमल होता है। समाज के अन्दर की शासित श्रेणी की भलाई के लिये तभी ख़याल किया जाता है जब उससे शासक श्रेणी के हित का कोई संघर्ष न हो तथा जब दोनों का हित बिल्कुल एक हो।

अपराध का श्रेणी-आधार

राष्ट्र (*state*) की बनावट के इस श्रेणी आधार (*classbasis*)

को न समझने के कारण ही अपराधविज्ञान के अधिकतर विद्वानों ने न मालूम कहाँ-कहाँ की कौड़ी लाकर अपराध को समझने का प्रयत्न किया, किन्तु उनका निशाना हमेशा खाली ही गया। अपराध की एक ही परिभाश है कि जिस कार्य का करना (*commission*) अथवा जिस कार्य से चूकना (*omission*) शासक-श्रेणी के विरुद्ध रुहो या उसके स्वार्थ में घातक हो वही अपराध है, किन्तु इस छोटी सी-बात को स्वीकार न कर इस विषय के लेखक कहाँ-कहाँ बहक गये, यह बहुत ही दिलचस्प है। सच कहा जाय तो उन्होंने अपराधी का सब प्रकार से निदान किया, सिवा सही निदान करने के। इनमें से अक्सर विद्वानों का निदान अन्धे के हस्तीदर्शन की तरह बिल्कुल एकदेशीय और आंशिक हुआ। ऐसी गवेषणाओं से समग्र सत्य का पता तो नहीं लगा, किन्तु कुछ बहुत अच्छी बातों का पता लगा जिनसे अपराध की विभिन्न दिशाओं को समझने में अधिक सुविधा हो गई, साथ ही अपराध के साथ युद्ध करने के लिये कौन-कौन से उपाय कारगर हो सकते हैं, इस पर बड़ी अच्छी रोशनी पड़ी।

अपराध पर एकदेशीय विवेचन

डिक्विरोस (*Dequiros*) ने अपनी पुस्तक *Modern theories of criminality* में इन अद्भुत सिद्धान्तों को गिनाया है। ओटेलेंगि, कैपानो तथा रोङ्कोंरिनि ये इटालियन विद्वान समझते हैं कि अपराध एक प्रकार का रोग है (*pathological phenomenon*) है, और मृगी से विशेष सम्बन्ध रखता है। बेनेडिक्ट नामक एक विद्वान् *neurasthenia* नामक स्नायविक रोग से ही अपराध का नाता जोड़ते हैं। ईजेनिरोस नामक विद्वान् मानसिक गड़बड़ में (*psychopathic state*) में ही अपराध का अंकुर पाते हैं। मैग्नान लौरेन्ट, डालेमान्ये, मारो, गाल्टन, विर्जिलिओ, रिबो, ब्लायलेर नस्ल के पतन *degeneracy* में ही अपराध का बीज पाया है। लाकासान्ये, ओब्रि, दिबिसों आदि

द्वान् समझते हैं कि अपराधी मनुष्य से कहीं बढ़कर हमारे पूर्व-रुष बन्दर के अधिक निकट हैंयाने वह विकास में पिछड़ा हुआ है, सलिये अपने से अधिक विकसित लोगों में खप नहीं पाता। आधु-निकों में गोरिङ्ग समझते हैं कि अपराधी का व्यक्तित्व त्रुटिपूर्ण है, *defective*) तभी वह साधारण मनुष्यों की तरह आचरण नहीं कर ाता।

लोम्ब्रोसो का सिद्धान्त—जन्म-अपराधी

चेसारे लोम्ब्रोसो ने जिनको एक तरह से हम अपराधविज्ञान के प्रष्ठवसुओं में से कह सकते हैं इस मत का प्रतिपादन किया कि अपराधी भी कवियों की तरह पैदा होते हैं, बनाये नहीं बन सकते। लोम्ब्रोसो अपने ज़माने के एक प्रसिद्ध चिकित्साशास्त्रज्ञ थे, मानसिक रोगों के विशेषज्ञ समझे जाते थे, पेसारिओं के पागलखाने के डाक्टर के नाते उन्हें पागलों के विषय में विशेष जानकारी का मौका मिला, इसलिये उनके सिद्धान्तों की बड़ी धूम रही। साथ ही साथ उनके सिद्धान्तों का जर्मनी में बाएर ने, फ्रान्स में मानब्रिये ने तथा इंग्लैंड में गोरिङ्ग ने बड़ा विरोध किया उन्होंने अपनी पुस्तक *L'uomo delinquente* में यह प्रतिपादन किया कि जन्म-अपराधी के चेहरे की बनावट ही खास होती है। उन्होंने कहा ऐसे लक्षणों में भारी जबड़े, लटका हुआ या आगे बढ़ा हुआ ललाट, खोपड़ी की अपुष्टता के साथ-साथ बुद्धि में कमी तथा औसत से अधिक गर्व हैं। लोम्ब्रोसो ने इन बातों को प्रमाणित करने के लिये बहुत से अंक तथा तथ्य पेश किये, बहुत से बड़े-बड़े अपराधियों के चेहरों का बारीकी के साथ अध्ययन किया, उनकी खोपड़ी, जबड़ा तथा ललाटों को नापा, जिससे इस सिद्धान्त का अनुमोदन हो। बहुत से लोगों ने इसे सच मान लिया। सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त बड़ा दिलचस्प था। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाता, और अन्त तक प्रयोग की कसौटी पर ठहर पात

तो राष्ट्र के लिये अपराध को दबाना बायें हाथ का खेल हो जाता। सच बात तो यह है कि वह फिर 'रोग में अटकाव करना उसे आराम करने से अच्छा है' इस सिद्धान्त को मानकर चेहरा पहचानकर संभव-अपराधियों को पहले से ही पकड़कर रख लेता, जिससे कि कोई अपराध हो ही न पावे, और इस प्रकार इसाई धर्म में वर्णित पृथिवी पर एक हज़ार वर्ष के लिये ही नहीं हमेशा के लिये स्वर्गराज्य आ जाता। फिर राष्ट्र के लिए जो कुछ आफ़त रह जाती वह इतनी कि कहीं लोग चेहरा विशेषज्ञों से खोपड़ी, जबड़ा तथा ललाट नपवाने से बच तो नहीं जाते जैसे आजकल बहुत से लोग टीका लगवाने से बच जाते हैं। केवल इसी बात की देखरेख के लिये पुलिस की ज़रूरत रहती। जजों की तो कोई ज़रूरत ही नहीं रहती, क्योंकि अपराध कोई होता ही नहीं। लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त से अर्थात् उसके प्रयोग से इस प्रकार दुनिया का बड़ा कल्याण होता। जो लोग अब मनचाहा लड़का तथा मनचाही लड़की पैदा होने की दवा का विज्ञापन करते हैं, वे अपने विज्ञापन में इतना और जोड़ देते (इसमें उनका लगता ही क्या) कि इस दवा के सेवन से जो सन्तान उत्पन्न होगी, उसका जबड़ा, ललाट तथा खोपड़ी ऐसी ही होगी, और ऐसी-ऐसी नहीं। ये सभी बातें होतीं और अच्छी होतीं किन्तु बात यह है कुछ लोगों ने इस सिद्धान्त को शुरू से ही सन्देह की दृष्टि से देखा, केवल यही नहीं वे बराबर इसके विरुद्ध प्रमाणों को इकठा करते रहे। ये विरुद्ध प्रमाण दो तरह के हो सकते थे, एक तो यह दिखाना कि अधिकांश माने हुए अपराधियों में जबड़ा, ललाट तथा खोपड़ी जैसा होना चाहिये उससे और ही तरह की हैं, तथा दूसरा यह कि सैकड़ों ऐसे व्यक्ति जो धर्मात्मा तथा भले आदमी समझे जाते हैं उनमें अपराधियों के समझे जानेवाले लक्षण मौजूद हैं। इस प्रकार लोम्ब्रोसो के पक्ष तथा विपक्ष में प्रमाण इकठे होने लगे।

लोम्ब्रोसो का सिद्धान्त नया नहीं—न उसका विपक्ष नया है

गहराई से देखा जाय तो लोम्ब्रोसो का यह सिद्धान्त कि साधु और दुष्ट के चेहरे में प्रभेद होता है कोई नया नहीं था। आमतौर से लोग यह जो कहते हैं 'चेहरे से ही वह दुष्ट मालूम होता था' या इसी प्रकार के और कथन प्रमाणित करते हैं कि भले और बुरे आदमी के चेहरे के पार्थक्य का यह ख़्याल बहुत गहरा है। प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ हद तक चेहरा विशेषज्ञ होने का दम भरता है, इसीलिये हमें प्राय: ऐसे वाक्य सुनने में आते हैं कि 'मैंने तो उसे बड़ा सीधा समझा था।' इत्यादि। रामायण, महाभारत कोई भी धर्मपुस्तक, पुराण उठाकर देख जाइये उसमें यही दिखाने की चेष्टा आप पायेंगे कि राम की रामता तथा रावण की रावणता उनके चेहरे पर जैसे झलक जाती है। इस विषय पर अधिक लिखना समीचीन न होगा, विद्वान् पाठक इसकी स्वयं जाँच कर सकते हैं। अवश्य इसके साथ ही 'विषकुंभं पयोमुखं, तरह के लोगों से शास्त्रकार बिल्कुल अपरिचित नहीं थे, और आमतौर से भी लोग चेहरे के भोलापन को ही सब कुछ समझते हों ऐसा नहीं क्योंकि वे यह भी कहते हैं "भोलीभाली शक्लवाले होते हैं जल्लाद ही।" हज्ज करने जानेवाली बिल्ली ने अपना चेहरा कितना मासूम बनाया था कि चूहों का भी उस पर विश्वास आ गया, इसको हमारे पाठक न भूले होंगे। अस्तु।

लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त की भद्द

तो सृष्टि के आदिकाल से ही कम से कम बहुत पहिले से ही अपराध और चेहरे का सम्बन्ध जोड़ा जाता रहा है। लोम्ब्रोसो ने इसे केवल एक वैज्ञानिक आधार पर स्थापितकर उसे एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की मर्यादा देने का प्रयन्त किया। कुछ दिनों तक अपराध-विज्ञान के विशेषज्ञों ने इसका ख़ूब खंडन-मंडन किया। जो लोग

इन दोनों पक्ष से अपनी विद्वता को ऊँचा साबित करना चाहते थे, उन्होंने गंभीरतापूर्वक सिर हिलाकर भारी आवाज़ में कहा "इसके पक्ष तथा विपक्ष में कहने को बहुत कुछ है", अर्थात् एक तीसरा पक्ष भी हो गया। राष्ट्रों का परिचालन भार इनमें से किसी पक्ष पर भी नहीं था, इस कारण मज़े में इनकी दो-दो चोंच होती रही, और किसी का कुछ नहीं बिगड़ता था, किन्तु आफ़त तो तब आई जब जेनेवा के विश्वविद्यालय में एकत्रित अन्तर्राष्ट्रीय अपराध-विज्ञान कांग्रेस की भरी सभा में एक व्यक्ति ने अपराधविज्ञान के इन बुज़ुर्गों के छपे हुए फोटो के ढेरों को दिखादिखाकर यह साबित कर दिया कि अधिकांश क्षेत्र में इनके चेहरों में वे सभी लक्षण मौजूद हैं जो चोर, उठाईगीर, गठकटे, डाकू तथा क़ातिलों की विशेषता बतलाई जाती है। † बुज़ुर्गलोग एक दूसरे के मुँह ताकते जाते थे और हैरान होते जाते थे कि अरे यह क्या बवा नाज़िल हो रही है, किन्तु सत्य को कौन रोक सकता था ? समझना चाहिये कि लोम्ब्रोसो का यह सिद्धान्त यहीं दफ़न हो गया।

फिर भी लोम्ब्रोसो की खोजों का महत्व

लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त का इस प्रकार आज वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ भी महत्त्व बाक़ी न रह जाने पर भी उनकी खोजों का तरीक़ा विशेष महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि उन्होंने अपराधी को एक सामाजिक दैवदुर्विपाक *accident* समझने के बजाय उसको वैज्ञानिक तरह से समझने की चेष्टा की, यही क्या कम था। अव्वल तो लोग अपराध और अपराधियों पर कोई ध्यान ही नहीं देते थे' और देते थे तो उसके लिये कड़े से कड़े तथा अजीब से अजीब दंडविधान करने के लिये। अपराधी कौन है, उसकी परिस्थितियाँ क्या हैं, सज़ा का उस पर तथा समाज पर क्या परिणाम होता

† *Criminology, by Horace Wyndham p. 11*

है इन बातों को कोई सोचता ही नहीं था।

कुरुपता अपराध का कारण

लोम्ब्रोसो का वह सिद्धान्त कि कोई अपराधी होकर ही पैदा होता है, अपराधी के चेहरे ही खास तरीके के होते हैं तथा अपराधी विकास में पिछड़ा हुआ मनुष्य योनि का प्राणी है निःसन्देह-रूप से फेरेरो आदि की खोज से गलत प्रमाणित हो चुका है, किन्तु डाक्टर गिलिन का कहना है कि ऐसा हो सकता है कि कई क्षेत्रों में बुरी शकल होने के कारण कोई समाज के आर्थिक ढाँचे में खप न जाता हो, और इस प्रकार अपराधी-तरीके से अपनी रोटी कमाने के लिये मजबूर हो जाय। मुझे डर है कि ऐसा मान लेने पर लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त की रक्षा तो हुई ही नहीं, इसके विपरीत यह उसका एक मज़ाक मात्र हुआ। फिर भी डाक्टर गिलिन का कहना सत्य है। भारतवर्ष में आमतौर पर यह समझा जाता है कि काने को सबेरे-सबेरे देखना खराब होता है, इस हालत में कोई सबेरे उठकर (यदि सब बातें बराबर हों) तो एक काने नाई से बाल बनवाना, काने की दूकान से चाय पीना, या उस का दूध लेकर सबेरे-सबेरे घर पर आना न पसन्द करेगा। मैंने देखा है कि इसी कुसंस्कार के कारण कई लोगों की नौकरियाँ जाती रहती हैं, आजकल की बेकारी के युग में कानाखुतरा होना सौन्दर्य दृष्टि से चाहे जो कुछ हो इन्हीं कुसंस्कारों के कारण आर्थिक क्षेत्र में यह एक प्रतिकूल बात है। इस कारण यदि किसी की नौकरी छूट जाय, और वह अपराधी का जीवन अख्तियार करे तो कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु स्मरण रहे इस हालत में बदसूरती एक आर्थिक कारण के रूप में ही अपराध की जननी होगी। इस विषय पर कोई आँकड़े तो इकठे नहीं किये गये हैं, किन्तु मैं अपने वर्षों के तजर्बे से कह सकता हूँ कि जेल में रहनेवालों में कानों,

ए पातानों तथा खास बदसूरतों की संख्या बाहर के ऐसे लोगों की संख्या से अधिक तो न होगी।

अपराधी का शरीर तथा ग्लैंड

लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त को यदि बहुत ही संकुचित कर बयान किया जाय तो वह यह होगा कि अपराधी के शरीर से अपराधी होने का सम्बन्ध है। इस संकुचित रूप में आने पर यह सिद्धान्त उतना हास्यास्पद नहीं रहता, जितना वह अपने मौलिक व्यापक रूप में रहता है शरीर शब्द के अन्दर मन को लिया जाय तो यह सिद्धान्त और भी व्यापक रूप से सत्य मालूम देगा। हाल ही में चिकित्साशास्त्र के कुछ विद्वान् ने यह साबित किया है कि नल-हीन ग्रंथियों (*endocrine or ductless gland*) का शरीर की वृद्धि तथा मानसिक स्वास्थ्य पर कितना असर है। इन अत्यंत प्रभावशाली ग्रंथियों में *thyroid, thymus, adrenals, parathyroids, pituitary, pineal* तथा *pinian* हैं। अब तो *endocrinology* एक पृथक विज्ञान ही हो गया, जो जीवविद्या की एक प्रमुख शाखा हो गई। इस विज्ञान के अनुसार कुछ ग्रंथियों के रस-क्षरण (*secretion*), अक्षरण, अतिक्षरण से मनुष्य के सामयिक या स्थायी व्यवहार में बहुत ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकते हैं। एक स्वभाव से सुस्त व्यक्ति इनके क्षरण में कमी, बेशी, होने, न होने के कारण एकाएक बहुत ही तेज़ हो सकता है, इत्यादि। यह सब बात मान लेने पर भी मैं समझता हूँ लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त का, यदि हम उस सिद्धान्त को ग्रंथियों के इस संकुचित रूप में ही लें, कोई मौलिक समर्थन नहीं होता, क्योंकि *endocrinology* का कोई भी विद्वान् यह दावा नहीं करता कि इन ग्रंथियों के क्षरण में जो परिवर्तन होता है वह उत्तेजना और प्रतिक्रिया (*stimuli aud reaction*) के बहिर्भूत है, बल्कि वे या तो यह मानते हैं कि अमुक-अमुक

कारणों से अमुक ग्रंथियों के क्षरण में परिवर्तन होता है, या वे साफ-साफ कहते हैं कि इनकी क्रिया अभी समझ में नहीं आती। इन कारणों में मानसिक धक्का (*shock*), समाज में प्रचलित विचारधारा (*the prevalent social ideology*) भय, प्रेम, मोह आदि सूक्ष्म से सूक्ष्म (*abstract*) मानसिक उद्वेग तथा क्रिया हैं। ऐसी हालत में ग्रंथियों के क्षरण को प्राथमिक कारण न मानकर उनको मिलने वाली उत्तेजना *stemuli* को ही मुख्य मानना पड़ेगा। अवश्य यहाँ पर एक बात कह देने की जरूरत है। वह यह कि प्राथमिक कारण ही मौलिक कारण होने पर भी वे सब कुछ नहीं हैं, जब गौण कारण एकबार पैदा हो जाते हैं तो वे भी महत्त्व-पूर्ण हो जाते हैं, और तब वे एक बड़ी हद तक प्राथमिक कारण से स्वतंत्र रूप में अपनी क्रिया करने लगते हैं।

अपराध और उत्तराधिकार (*heredity*)

लोम्ब्रासो ने एक ऐसे ही और गौण कारण का याने उत्तराधि-कार *heredity* का अपराध पर क्या प्रभाव होता है इसका अध्ययन किया। उन्होंने इस बात का पता लगाया कि एक व्यक्ति के पितामाता यदि अपराधी हैं तो इससे उसके अपराधी होने की कहाँ तक संभावना हो जाती है। उन्होंने इस उद्देश्य से १०४ मामलों की पूरी खोज की तो ७१ मामलों में उन्हें कुछ न कुछ प्रभाव ज्ञात हुआ। हमें इस बात में कुछ आश्चर्य नहीं है। कुछ अमेरिकन अपराधविज्ञानियों ने कुछ अपराधी परिवारों का हिसाब लगाया तो उनकी खोजों से भी इस बात का समर्थन हुआ कि उत्तराधिकार का प्रभाव गहरा होता है। अमेरिका के एक ज्यूकस परिवार में ही सैकड़ों अपराधी हुए। यूरोप में जिप्सि लोगों को जाति ही अपराध करनेवाली समझी जाती है। भारत सरकार ने तो भाँतू, हबूड़ा, डोम साँसी तथा कंजड़ों की पूरी जाति और पासी और कई जातियों के

लोगों को आंशिक रूप से जरायम पेशा करार देकर उत्तराधिकार सिद्धान्त को सब से अधिक सत्य कहा है।

उत्तराधिकार सिद्धान्त की सीमा

हम यदि अपनी चारो ओर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि उत्तराधिकार का सिद्धान्त एकदम लचर नहीं है। पितामाता के स्वभाव अक्सर पुत्र में ज़ाहिर होते हैं, मानने में हमें कोई आनाकानी नहीं है, किन्तु प्रश्न तो यह है कि लड़का जो बाप-माँ का स्वभाव पाता है क्या वह इसलिये कि वह उनके रजोवीर्य से पैदा होता है, या इसलिये कि वह जब से पैदा होता है, तब से माँ-बाप का ही उदाहरण वह माता के दूध के साथ पीता है, और उसी वातावरण को साँस के रूप में खींचता है, याने उसका पड़ोस *environment* होता है इसीलिये ? फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि लड़का माँ-बाप का स्वभाव जन्मतः एक बड़ी हद तक पाता है, तो भी यह प्रश्न उठता है कि माँ-बाप का स्वाभाव एक विशेष तरीके का क्यों हुआ, और दूसरे तरीके का क्यों न हुआ ? कहना न होगा कि इस प्रकार हम फिर सामाजिक-आर्थिक कारणों में ही पहुँच जाते हैं।

उत्तराधिकार का वैज्ञानिक सिद्धान्त

Like begets like याने जैसा बाप तैसा पूत यह एक पुरानी धारणा है। उन्नीसवीं सदी में ही पहिले-पहल इस धारणा को वैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयन्त किया गया। विकासवाद के सिद्धान्त से इस सिद्धान्त की पुष्टि हुई। गाल्टन ने ही पहिले-पहल यह बतलाया कि बच्चे अपनी चारित्रिक विशेषताओं में से आधी पिता-माता से, एक चौथाई पिता-माता के पिता-माता से तथा आठवाँ हिस्सा उनके पिता-माता से प्राप्त करते हैं। इस नियम को एकदम सत्य की मर्यादा तो नहीं प्राप्त हुई, किन्तु कहा जाता है कि यह

सत्य के बहुत क़रीब है। इसके साथ ही गाल्टन ने यह भी साबित किया कि इस प्रकार प्रजनन द्वारा औसत से अधिक हट जाने के साथ ही औसत में लौट जाने की एक प्रवृत्ति है। इसको *law of regression* याने प्रत्यावर्तन का नियम कहते हैं।

ग्रिगोर मेन्डल ने इस विषय में बहुत महत्व-पूर्ण खोजें की हैं, किन्तु उनके सारे सिद्धान्त जानवरों पर प्रयोग करने पर ही मुख्यतः अवलम्बित रहे, इसलिये वे कहाँ तक मनुष्यों के लिये लागू हो सकते हैं इसमें सन्देह है। मनुष्योंको लेकर प्रयोग करने में कई दिक़्क़तें रही हैं, एक तो मनुष्यों का एक पुश्त बीस-पच्चीस वर्षों का होता है, दूसरा कोई मनुष्य इस प्रकार के प्रयोगों का पात्र होना पसन्द न करेगा, तीसरा उस व्यक्ति का बाप कौन है यह वैज्ञानिक निश्चयता के साथ राज़ी किये हुए व्यक्ति के सम्बन्ध में जबतक न मालूम हो तबतक प्रयोग का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। फिर भी आँखों के रंग आदि के सम्बन्ध में कुछ नियम पर वैज्ञानिक पहुँचे हैं। हमारे वर्तमान तर्क के लिये रंग आदि का कोई महत्व नहीं, क्योंकि यह प्रमाणित होने पर भी कि शारीरिक विशेषतायें उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त होती हैं, यह जानने को बाक़ी ही रह जाता है कि मानसिक बिशेषताये कहाँ तक उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त होंगी। साधारण बुद्धि तो यही कहती है कि रवीन्द्रनाथ का लड़का रवीन्द्रनाथ नहीं होता, तो एक उठाईगीर का लड़का उठाईगीर क्यों होगा ? अवश्य इन दोनों बातों में एक ज़बर्दस्त प्रभेद है; वह यह की उठाईगीर होने में उठाईगीर के लड़के उठाईगीर पर सामाजिक-आर्थिक कारणों का बहुत जबर्दस्त असर रह सकता है, किन्तु कवि होने में यह असर उतना सीधा नहीं है। उठाईगीर के लड़के के लिये उठाईगीरी करना या न करना जीवन मरण का प्रश्न हो सकता है, किन्तु कवि के लड़के के लिये कवि होना ऐसा नहीं हो

सकता जो कुछ भी हो वैज्ञानिक खोजों से तीन तरह के *feeble-minded* या क्षीणबुद्धि माने गये हैं। एक *moron* दूसरा *imbecile*, तीसरा *idiot* हमारे काम के लिये ये श्रेणिया किसी काम की नहीं है हमारे सामने तो केवल प्रश्न यह है कि क्षीणबुद्धिता उत्तराधिकार सूत्र से सन्तानों में जाती है कि नहीं। इसका उत्तर यह है कि अक्सर ऐसा होता है। वैज्ञानिक मतानुसार यह ज़रूरी नहीं कि पागल का लड़का पागल ही हो पागल का लड़का बिल्कुल साधारण भी हो सकता है, किन्तु उस हालत में यह हो सकता है कि वह पागलपन की विशेषता के बीज को अपने अन्दर उप्त रूप (*recessively*) से लिये हो, और वह उसमें प्रकट न होकर उसके पुत्र, प्रपौत्र या उससे भी आगे प्रकट हो।

मिरगी (*epilepsy*) तथा क्षीणबुद्धिता (*feeble-mindedness*)

क्षीणबुद्धिता को या मिरगी को उत्तराधिकारसूत्र में फैलनेवाली मान लेने पर अपराध के निदान में कुछ फ़ायदा नहीं होता। पहिले ही बतलाया जा चुका रोङ्कोरोनि, ओटोलेंगि और कैपानो आदि विद्वान् मिरगी को, तथा बेनेडिक्ट न्युरास्थिनिया को अपराध का मूल कारण मानते थे, किन्तु अब यह प्रमाणित हो गया है कि मिरगी तथा न्युरास्थिनिया से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। अमेरिका के कुछ विद्वानों ने निर्विवाद रूप से एक तो यह सिद्ध कर दिया कि मिरगी वालों में बहुत कम अपराधी होते हैं, दूसरा यह कि जेल के कैदियों में अच्छी तरह डाक्टरी जाँच के बाद ३० से कम फी सदी लोग क्षीणबुद्धि *feeble-minded* की श्रेणी में आते हैं। बाक़ी ७० फी सदी बिलकुल साधारण हैं। साथ ही किसी भी जीवविद्याविशारद ने यह नहीं कहा कि अपराध करने की मनोवृत्ति सीधा *as such* उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त होती है, जो कुछ वे कहते हैं वह अधिक से अधिक यह है कि कुछ क्षेत्रों

में अर्थात् मिरगी, क्षीणबुद्धिता तथा अन्य कुछ रोगों के लिये प्रवणता *tendency* नीचे की ओर जाती है। इन बातों को मान लेने पर भी कदापि यह प्रमाणित नहीं होता कि कोई अपराधी होकर पैदा होता है।

अपराधी का शरीर—कुछ दिलचस्प खोज

किसी को पैदाइशी अपराधी न मानने पर अपराधी के सम्बन्ध में कुछ खास खोजें की गई हैं जो बड़ी दिलचस्प हैं। मिस्टर गोरिङ्ग पार्कहर्स्ट जेल के क़ैदियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में खोज करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि इंग्लैंड के साधारण स्वास्थ्य से तुलना करने पर क़ैदी कमज़ोर प्रमाणित होते हैं। डाक्टर स्लेस्टर अमेरिका की जेलों के क़ैदियों की जाँच कर इसी नतीजे पर पहुँचे। मिस्टर ब्राकवे ने लिखा है कि न्यूयार्क के एल्मिरा रिफार्मेटरी के ८००० क़ैदियों की जाँच करने के बाद डाक्टर क्रिश्चन इस नतीजे पर पहुँचे कि २५ फी सदी के सिर पर गहरी चोट के निशान हैं या बेकार करनेवाली बीमारियों का असर है, २८ फी सदी को तपेदिक है, ४३ फी सदी को भद्दी बीमारियाँ हैं। इसके विपरीत डाक्टर विलियम हीलि *Healy* तथा कुमारी आगुष्टा एफ० ब्रोमर ने शिकागो के २००० पक्के बाल-अपराधियों की जाँच कर यह नतीजा निकाला कि उनमें से लड़कों में ५० से ६४ फी सदी तथा लड़कियों में से ७२ से ७३ फी सदी शारीरिक दृष्टि से अतिविकसित हैं *over-developed* हैं। इसका वे जो उपसंहार निकालते हैं वह द्रष्टव्य है, वे लिखते हैं—"इन बातों से पता चलता है कि अपराध का कारण ग़रीबी से उत्पन्न *malnutrition* या अपुष्टि से अपराध होते हैं जैसा कि पुराने देशों के बहुत से लेखक दिखलाने की चेष्टा करते हैं बिल्कुल ग़लत है। इन लड़कियों का अतिविकास विशेष कर दिलचस्पी का विषय है।" इस उपसंहार से स्पष्ट है कि कुछ लेखक इस बात

को साबित करने के लिये कितने उत्सुक हैं कि वर्तमान पूँजीपति समाज-पद्धति का कोई दोष नहीं है।

अन्य निरीक्षण

लोम्ब्रोसों के युग में इटली में मैलेरिया का बड़ा प्रादुर्भाव था, इसलिये उन्होंने इस बात का पता लगाना शुरू किया कि इस रोग से अपराध का क्या सम्बन्ध है। इस खोज के फलस्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ कि इटली के जिन ज़िलों में मैलेरिया का प्रकोप सब से अधिक है उनमें सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध सब से कम है, किन्तु हत्या *homicide* से मैलेरिया का सम्बन्ध है ऐसा फ्रान्स तथा इटली दोनों देशों के आँकड़ों से साबित हुआ। इसी प्रकार कुछ मुख्य अनाज की अच्छी या बुरी फसल के साथ वहाँ के अपराधों के आँकड़े का मिलान किया गया तो उससे लाफार्ग *Lafargue* नामक विद्वान् को पता चला कि फसल नष्ट हो जाने के साल में अपराध अधिक होते हैं। आटे के भाव में वृद्धि-कमी के साथ अपराध की वृद्धि या कमी का मिलान किया गया, तो उससे भी पता चला कि इनमें सम्बन्ध है। दुर्भिक्ष के दिनों में अपराध बहुत ही बढ़ जाते हैं इसमें किसी विद्वान का मतभेद नहीं है। देहातों के सम्बन्धमें यह एक विशेष बात पाई गई है कि जिन महीनों में कटाई, बुवाई, जुताई आदि काम होते हैं, उन महीनों में बलात्कार, परस्त्री गमन आदि प्रजनन सम्बन्धी अपराध *sexual crimes* अधिक होते हैं। यह भी देखा गया कि अपेक्षाकृत गरम देशों में व्यक्ति के विरूद्ध अपराध अधिक होते हैं, किन्तु सम्पत्ति के विरूद्ध अपराध ठंडे मुल्कों से कम होते हैं। साथ ही यह भी देखा गया कि ठंडे महीनों से गरम महीनों में व्यक्ति के विरूद्ध अपराध विशेष कर प्रजनन सम्बन्धी अपराध अधिक होते हैं। बलात्कार जाड़ों में बहुत कम होते हैं। इसकी आनशाफेन बुर्ग आदि कुछ विद्वानों ने यह व्याख्या की है कि जैसे

प्रत्येक जानवर के प्रजनन का *mating* एक मौसिम होता है, और उस समय उस जाति के सब जानवरों में प्रजनन का दौरा-सा आता है, उसी प्रकार पहिले मनुष्यों में होता होगा। अब उसी के शेष के तौर पर कुछ व्यक्तियों में दौरा आता है। आनशाफेनबुर्ग के अनुसार विवाहितों से कहीं बढ़कर अविवाहित बालिगों पर बलात्कार तथा श्लीलता-हानि करते हैं, किन्तु नाबालिगो पर इस प्रकार के भद्दे हमले विवाहित ही करते हैं। गरम महीनों और ठंडे महीनों के सम्बन्ध में खोज करते-करते आँकड़ों से यह भी पता लगा है कि जाड़ों में सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध अधिक होते हैं। इस प्रभेद का कारण कदाचित यह हो कि ये सब खोजें मुख्यत: अमेरिका और यूरोप के देशों के आँकड़ों के सहारे हुई, और इन देशों में जाड़े कड़ाके के होते हैं, इस कारण ग़रीबलोग जो साधारणत: भले हैं चोरी आदि करने पर मजबूर होते हैं गेरि (*Guerry*) तथा लोम्ब्रोसो का यह ख्याल है कि गर्मी से अपराध की उत्पत्ति होती है। यह भी पता लगा कि जिन मकानों में अधिक भीड़ होती है वहाँ अगम्य-गमन का अपराध (*incest*) तथा व्यभिचार अधिक होते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि यह कारण आर्थिक हैं।

कहना न होगा कि ऊपर बताये गये सब अध्ययन एक-देशीय हैं, इन अध्ययनों से अधिक से अधिक उत्तेजक कारणों ही का पता लगना है। जेल में बहुत दिनों तक रहते-रहते हवालातियों की आमद को देखते-देखते हमें यह तजुर्बा हुआ है कि वर्षा के समय या उसके अन्त में जब खेतों की जुताई,-बुवाई होती है, उन्हीं दिनों में भारतवर्ष में मेढ़ के झगड़े अधिक होते हैं, तथा चूँकि इसी कारण से देहातों की अधिकतर फौजदारी होती है, इसलिये हत्या तथा मारपीट का यह एक बड़ा मौसिम है। यह स्वाभाविक है। जुताई,-बुवाई से कहीं बढ़कर फसल की रखाई के दिनों में प्रजनन सम्बन्धी

अपराध होते हैं। यूरोप का तो पता नहीं, भारत में ऐसे अपराधों में से अधिकांश दबा दिये जाते हैं, केवल कुछ ही अपराध पुलिस की रिपोर्टों में दर्ज होते हैं, इसलिये पुलिस विभाग के आँकड़ों से या जेल में कितने इस अपराध में हैं, इससे अपराध के विस्तार के सम्बन्ध में कुछ तख़मीना लगाना ग़लत होगा। सच बात यह है भारतवर्ष के अपराधों के सम्बन्ध में कोई ढंग के आँकड़े प्राप्त ही नहीं हो सकते।

मानसिक व्याधि और अपराध

हमने पहिले ही बताया है कि इजेनिरोस नामक विद्वान मानसिक गड़बड़ में ही अपराध का अंकुर पाते हैं। इसमें तो सन्देह नहीं की मानसिक भारसाम्या *equilibrium* में गड़बड़ी के बिना, चाहे वह थोड़ी ही देर के लिये स्थायी क्यों न हो कई अपराध ऐसे हैं जो हो ही नहीं सकते जैसे हत्या, बलात्कार, मारपीट, दंगा आत्महत्या इत्यादि। आत्महत्या के सम्बन्ध में तो यह समझा जाता है कि ऐसा करते समय अपराधी सामयिक तौर पर बिल्कुल पागल हो जाता है। अक्सर बलात्कार का भी यही हाल है, मेरा मतलब यहां केवल उन भद्दे आक्रमण तथा बलात्कारों से हैं जो एकाएक किये जाते हैं, तथा जिनमें पूर्व विचार *premeditation* नहीं होता। मारपीट, दंगा, हत्या के सम्बन्ध में भी यही बात है। एक आदमी दस आदमीयों में बैठकर तास खेलते-खेलते एक मामूली बात पर ख़ूनख़च्चर कर डालता है, कभी-कभी इसमें हत्या भी हो जाती है, फिर जब वह होश में आता है तो वह कहता है "मैं आपे में नहीं था" इत्यादि, इससे भी स्पष्ट है कि वह सामयिक तौर पर पागल हो गया था। इस प्रकार की मानसिक गड़बड़ी को अपराध की जननी मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु जब यह कहा जाता है कि मानसिक गड़बड़ी ही प्राथमिक कारण है तभी

बखेड़ा खड़ा होता है। पहिले ही बताया जा चुका है अमेरिका के अपराधियों की जाँच के बाद केवल ३० फी सदी कैदी मानसिक त्रुटिपूर्ण पाये गये, मानसिक गड़बड़ी से अपराध होते हैं यह ऐसी हालत में व्याख्या बिल्कुल नहीं ठहरती। रहा सामयिक *temporary* आपे से बहार हो जाने को हम स्थायी त्रुटि नहीं मान सकते, और इस प्रकार सामयिक रूप से आपे से बहार हो जाने को रोग के बजाय सामाजिक शिक्षा का अभाव ही कहेंगे। अवश्य सामाजिक शब्द का उस समय की शासक श्रेणी द्वारा लियेजानेवाला अर्थ ही ग्राह्य होगा, क्योंकि जैसा कि मैं पहिले बतला चुका हूँ अपराध क्या है इसको करार देनेवाली शासक श्रेणी ही है।

द्वितीय कारण भी महत्वपूर्ण

फिर भी मानसिक दृष्टिकोण से अपराधों का जो अध्ययन किया गया है वह बड़ा ही दिलचस्प है। यद्यपि इसमें केवल द्वितीय कारणों का पता लगाता है, या उन्ही से इस अध्ययन का सम्बन्ध है, तो भी जैसा कि मैं कह चुका हूँ द्वितीय कारण जब पैदा हो जाते हैं तो स्वतंत्ररूप से क्रियाशील हो जाते हैं, इस दृष्टि से इनका अध्ययन उचित है।

अपराध और मनोविश्लेषण (*Psychoanalysis*)

आधुनिकतम मनोविज्ञान के सहारे याने मनोविश्लेषण (*Psychoanalysis*) की सहायता से अपराधविज्ञान के क्षेत्र में जो खोजें की गई हैं, वे बहुत ही विस्तृत हैं। इस स्थान पर वर्णन संभव नहीं, यहाँ हम केवल उस खोज की दिशा दर्शाकर ही सन्तोष करेंगे मनोविश्लेषण के प्रवर्तक फ्रयेड से लेकर इस विषय के सभी विद्वानों ने यह दिखलाया है कि मनुष्य के आचरण में कोई भी बात ऐसी नहीं है जो कार्यकारण सम्बन्ध की परिधि में न असके।

यदि हम लिखने में चूक जाते हैं, कुछ का कुछ पढ़ते हैं, बोलने में शब्द बदल देते हैं, तो इस सब के भी कारण हैं, चाहे हम उन्हें जाने या न जाने। अक्सर हम उन्हें नहीं जानते हैं किन्तु मनोविश्लेषकों का दावा है कि वे इस कारण को सामने ला सकते हैं, यदि पात्र उनके साथ सहयोग करे, और कभी-कभी उसके असहयोग करने पर भी। यदि दस व्यक्ति खड़े हों और एक व्यक्ति उनसे कहे कि आपलोग एक एक संख्या मन में रख लीजिये, और वे दस विभिन्न संख्या रक्खें तो मनोविश्लेषक का दावा है कि वे दसों संख्याओं में से प्रत्येक दूसरी अन्य करोड़ों संख्याओं पर तरजीह देकर क्यों रक्खी गई यह बताना संभव है; अर्थात् साधारण तौरपर जिस मानसिक क्रिया को बिल्कुल ही अटकलपच्चू या टप्पापल्ला कहेंगे, उसमें भी वे कार्यकारण का सम्बन्ध निकाल कर स्थापित करने का दावा करते हैं। अलफ्रेड एडलर तथा अन्य कुछ मनोविश्लेषकों ने इस प्रकार संख्याओं पर बड़े दिलचस्प अध्ययन किये हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार के छिपे उद्देश्यों का पता लगाना अपराध के अध्ययन में बड़े मार्के की वस्तु है।

फ्रयेड का मत

हम इस विषय पर विस्तार के साथ विचार नहीं कर सकते, क्योंकि यह स्वयं एक विस्तृत विषय है। फ्रयेड ने अपने *Psychopathology of everyday life* नामक पुस्तक में लिखा है "बिल्कुल ही टप्पापल्ला देखने में कार्यकारणहीन हमारी क्रियाओं में उद्देश्य का पता लगाने से मनोविज्ञान में ही नहीं बल्कि शायद न्याय प्रदान के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित हुआ है। ब्लायलेर तथा युङ ने इस प्रकार इस बात को वैज्ञानिक रूप से समझने की चेष्टा की है कि किसी व्यक्ति को एक शब्द कहने पर उसकी प्रतिक्रिया में एक दूसरा खास ही शब्द क्यों कहता है। फिर इस प्रतिक्रिया में शब्द

कहने में व्यक्ति। (*test-person,*) जितना समय लेता है, वह भी नापा जाता है, और उससे भी नतीजे निकाले जाते हैं। युङ ने *Diagnostishe assozitionsstudien* में दिखलाया है कि इस प्रकार के प्रयोगों से हम कितने अच्छे तरीके से मन के रहस्यों को जान सकते हैं। अपराधविज्ञान के तीन विद्वानों ने अर्थात् एच गोस, वेर्टहाइमेर और क्लाईन ने इन्हीं प्रयोगों से एक प्रक्रिया का आविष्कार किया है जिससे अपराधों की असलियत का पता लगे। अब इस प्रक्रिया की जाँच न्यायविशेषज्ञ तथा मनोवैज्ञानिकगण कर रहे हैं।"†

मानसिक रुकावट (*repression*) अपराध का एक कारण

मनोविश्लेषकों ने इस प्रकार तरह-तरह के प्रयोगों तथा उपायों से मनके रहस्यों का पता लगाया है, इनसे ज्ञात होता है कि कई लोग जो नियम को तोड़कर निकल जाते हैं, तथा उनके अन्दर की कोई बात जो फूटकर प्रतिसामाजिक रूप धारण कर लेती है, उसके पीछे कोई मानसिक रुकावट (*repression*) है। मनोवैज्ञानिक यहीं तक जाकर रुक जाता है, क्योंकि उसका क्षेत्र मन तक ही है, वह अधिक से अधिक यह कहेगा कि यह रुकावट दूर कर दी जाय या रोगी को बता दिया जाय कि यह रुकावट है, कभी-कभी इतना बता देने से ही उसका रोग दूर हो सकता है। मनोविज्ञान का क्षेत्र मुख्यत: व्यक्ति का मन है किन्तु अपराध विज्ञान का दायरा सारा समाज है, इसलिये वह कहीं रुक नहीं सकता। वह तो यह पूछेगा कि इस रुकावट का कारण क्या है, इस प्रकार खोजते-खोजते वह सामाजिक-आर्थिक कारणों तक पहुँच जायेगा। मानसिक गड़बड़ कोई काल्पनिक अवस्था नहीं है, और यह भी हम स्वीकार करते

† पृष्ठ १६१ 'पेलिकन' संस्करण

हैं कि बहुत से अपराध *pathological* याने मानसिक रोगजनित हैं, साथ ही यह भी मानने में कोई हर्ज नहीं कि व्यक्तिगत रूप से यदि अपराधी का इलाज किया जाय तो उसमें फ़ायदा भी पहुँच सकता है, किन्तु यदि समाज को मौलिक रूप से अपराधियों से मुक्त करना है तो उसके मौलिक कारणों को ढूँढ़ कर उनको हटाना पड़ेगा ।

सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ

आर्थिक-सामाजिक कारणों को सब से अधिक महत्त्व तथा अपराध का मूल कारण माननेवाले विद्वानों में ट्युराटि, लोरिया, कोलायान्नि तथा बोङ्गेर मुख्य हैं। सोवियट रूस के अपराधविज्ञान के विद्वान् इसी मत को मानते हैं। इस बात को फिर से स्पष्ट कर दिया जाय कि सामाजिक-आर्थिक कारणों को प्राथमिक कारण मानते हुए भी कोई यह नहीं कहता कि द्वितीय तथा उत्तेजक (*second and immediate*) कारणों के रूप में दूसरे कारणों का कोई महत्त्व ही नहीं है। सच बात तो यह है बहुत से अपराधों के मूल कारण इतनी पाश्चाद्भूमि में रह जाते हैं कि उनको खोज निकालना कठिन ही नहीं असंभव ज्ञात होता है । चोरी, डकैती, उठाईगीरी, जालसाज़ी, सिक्का बनाना, जूआ, मेढ़पर फ़ौजदारी, सेंध फोड़ना, इन सब अपराधों के आर्थिक कारणों को खोज निकालना कठिन न होगा, किन्तु बलात्कार या व्यभिचार (*adultery*) का आर्थिक कारण कैसे पता लगे। बहुतों को इसकी तलाश करना ही शायद हास्यास्पद मालूम पड़े, किन्तु क्या यह इतना हास्यास्पद है जितना पहिली दृष्टि में जँचता है ? वेश्यावृत्ति के कारण को भी मुख्यतः लोग आर्थिक मान लेंगे, किन्तु व्यभिचार इस कार्य के बहुत क़रीब होते हुए भी इसका आर्थिक कारण लोग मानने को तैयार नहीं होंगे। पहिले ही मैं बता चुका हूँ कि आर्थिक कारण बहुत छिपे हो सकते हैं, या संभव है कि वे बिल्कुल सीधे तरीके से

कार्यशील (*directly active*) न होकर दूसरे द्वितीय कारणों (*secondary causes*) के ज़रिये कार्यशील हों।

एक उदाहरण

हम जिस समाज में रहते हैं वह उत्पादन पद्धति का परिणाम है इसमें कोई संदेह नहीं, लोग इसको मानने में अधिक आना-कानी न करेंगे। हमारे रीतिरिवाज, नैतिक धारणायें, संस्थायें सब आर्थिक कारण से ही उपजी हुई हैं। हम एक छोटे से उदाहरण को लें। जिस समय हमारा समाज मुख्यत: सामन्तवाद के दायरे में (*orbits of feudalism*) था, उस समय संयुक्त परिवार (*joint family*) प्रथा का बोलबाला था। लोग अनेक लड़के, लड़कियों के साथ रहना पसन्द करते, किन्तु वे इसको पसन्द क्यों करते थे यदि इसकी जाँच की जाय तो ज्ञात होगा कि ऐसा करना उस ज़माने की उत्पादन पद्धति को देखते हुए सुविधाजनक था। आज हमारे समाज की उत्पादन-पद्धति बहुत कुछ बदल चुकी है, बदल रही है, इस कारण संयुक्त परिवार प्रथा भी टूट रही है। इसी प्रकार हम यदि गहरी दृष्टि डालें तो मालूम होगा कि विवाह प्रथाका जो विकास देशविदेश में हुआ है, वह वहाँ की आर्थिक शक्तियों की उपज (*products of economic forces*) है। जैसे एक उदाहरण लिया जाय काश्मीर के उत्तर में तथा तिब्बत में जो एक स्त्री के कई पति करने का *polyandry* रिवाज था, जिसको १६४० में अभी-अभी काश्मीर सरकार ने बन्द किया है, उस पर चाहे जो कोई कितना भी हँसे, किन्तु उसकी उत्पत्ति आर्थिक कारणों के तक़ाज़े पर हुई थी। वह कारण संक्षेप में यों था कि वह देश बड़ा ही ग़रीब है, और वहाँ के मर्द महीनों तक दूर-दूर देश में जाकर व्यापार आदि रोज़गार करने जाते थे। घर के कामकाज सम्हालने के लिये केवल एक ही भाई रह जाता था, बाक़ी सब भाई चले जाते

थे। इस प्रकार सब भाइयों को एक स्त्री से शादी करना ही सुविधा-जनक होता था। मुल्क इतना गरीब था कि सब भाइयों के लिये अलग-अलग बीवियों का होना असंभव नहीं तो कठिन था। यहाँ पर एक बात की ओर पाठक की दृष्टि विशेष रूप से आकर्षित करना जरूरी है, वह यह कि बहुपतित्व के *polyandrous* समाज में पुरुषों में एक स्त्री के लिये इर्ष्या *jealousy* नहीं थी। इस प्रकार देखने की बात है कि जिस गुण को या अवगुण को हम शाश्वत *eternal* समझते हैं, तथा यह समझते हैं कि मनुष्यस्वभाव का एक अविच्छेद्य विशेषता *inseperable trait* समझते हैं, वह भावुकता *sentinent* भी आर्थिक कारणों से या और भी अच्छी तरह कहा जाय आर्थिक शक्तियों से उत्पन्न है।

व्यभिचार का विश्लेषण-आर्थिक दृष्टि से

अब हम अपने मूल प्रश्न पर आते हैं, व्यभिचार (*adultery*) है क्या ? व्यभिचार विवाह प्रथा तथा सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में गड़बड़ी से ही उत्पन्न होता है। बेजोड़ विवाह, एक गलत विवाह से बिलकुल छुटकारा न पा सकना या बड़ी मुश्किल से छुटकारा पाना, आर्थिक दबाव आदि कारणों से ही व्यभिचार होते हैं। आधुनिक रूस में यह सब बन्धन तोड़ दिये गये है। वहाँ यदि कोई स्त्रीपुरुष का जोड़ा परस्पर में विवाह का सम्बन्ध करना चाहता है, तो वे रजिस्ट्री, आफिस में जाकर दो रुबल देकर बड़ी आसानी से विवाह के शर्तनामे पर दस्तखत कर पतिपत्नी हो सकते हैं। इतनी ही आसानी से यह विवाह तोड़ा जा सकता है। हम यह नहीं कहते कि रूस ने जो कुछ किया है, उसी को हम भी अपनावें, सच बात तो यह है ऐसा कहना हमारे वर्तमान अनुसन्धान के बाहर है। हम तो केवल यही दिखा रहे थे कि व्यभिचार के ऐसे अपराध के नीचे सामाजिक-आर्थिक (*socio-economic forces*) शक्तियाँ मौजूद हैं।

हमारे लिये इस बात को समझना इसलिये ज़रूरी है कि बिना इन मौलिक कारणों को समझे इनका प्रतिविधान (*antidotes*) बताना ग़लत होगा।

Fornsari di verse की खोज

अपराध के आर्थिक कारणों की खोज करते हुए बोङ्गेर नामक उच्च अपराधविज्ञानी ने सबसे पहले फोर्नसारि डि वेर्से (*Fornsasi di verse*) की खोज का उल्लेख किया है, जिसमें वे इस नतीजे पर पहुँचे कि जिन इलाक़ों में ग़रीबी अधिक है, उनमें अपराध अधिक है। फोर्नसारि डि वेर्से के इस उपसंहार (*conclusion*) को जैसे का तैसा बोङ्गेर ने माना है, किन्तु हमें ऐसा करने में सख़्त आपत्ति है। वह इसलिये कि यदि ऐसा होता तो भारतवर्ष जो मनुष्य की औसत आमदनी को देखते हुए सबसे ग़रीब देश है, वहाँ दुनिया के सबसे धनी देश अमेरिका से कई गुना अधिक अपराध होता, किन्तु वस्तुस्थिति सम्पूर्ण रूप से इसके विपरीत है। वस्तुस्थिति तो यह है कि सबसे धनी देश अमेरिका में अपराध का सबसे अधिक दौरदौरा है। इससे फोर्नसारि की खोज पर पानी फिरता हुआ मालूम देने पर भी ज़रा विचार करने पर ज्ञात होगा कि उनके नतीजे बिल्कुल (*essentially*) ठीक हैं। वह यों कि फोर्नसारि की खोज फ्रान्स, इटली तथा यूरोप के ऐसे देशों के आँकड़ों पर अवलम्बित थी, जिनकी आर्थिक दशा में क़रीब-क़रीब समता थी। इसलिये इन देशों के असम इलाक़ों का अध्ययन करने पर वे इस नतीजे पर पहुँचे जिसका उल्लेख पहिले किया गया है। उनकी खोज के क्षेत्र में भारत तथा अमेरिका ऐसे आर्थिक रूपसे असम (*economically unequal*) क्षेत्र नहीं थे। यदि ऐसा होता तो वे अपने उपसंहार में कुछ संशोधन करने के लिये बाध्य होते। वह यह कि निर्धन और धनी प्रदेश के अपराधों की तुलना कर किसी

नतीजे पर पहुँचने के लिये यह जरूरी है कि पहिले पता लगा लिया जाय कि इनका प्रचलित रहन-सहन का स्टैंडर्ड (*standard of living*) एक है, यदि ऐसा न होगा तो उनकी तुलना गलत होगी, और उसका कोई नतीजा न निकल सकेगा। एक भारतीय देहाती को मोटर तो क्या काँटाचम्मच, कुर्सी, मेज़ तक की ज़रूरत महसूस नहीं होती, किन्तु ग़रीब से ग़रीब यूरोपियन के लिये ये चीजें उतनी ही आवश्यक हैं जितना कि खाना खाने की थाली, एक अमेरिकन किसान मोटर को अपनी उम्मीदों के दायरे के अन्दर ही समझता है। ऐसी हालत में भारत और अमेरिका की ग़रीबी की धारणा में आस्मान-ज़मीन का प्रभेद स्पष्ट है, इसलिये उनकी आपस में तुलना कर अपराध के सम्बन्ध में कोई नतीजे पर हम नहीं पहुँच सकते। एक ही रहनसहन की धारणावाले दो इलाकों में ही फोर्नसारि की खोज सच उतरेगी।

ग़रीबी से अपराध

इसमें तो सन्देह है ही नहीं कि ग़रीबी से अपराध के लिये क्षेत्र उत्पन्न होता है (*predisposes to crime*)। बोङ्गर इस मत पर बहुत ज़ोर देते हैं। बँगला में एक कहावत है 'अभावे स्वभाव नष्ट' याने अभाव से स्वभाव नष्ट होता है, यह बिल्कुल ठीक है। संस्कृत में एक कहावत 'बुभुक्षितः किं न करोति पाप ? याने भूख का मारा क्या नहीं करता। यह सब बातें प्रकट करती हैं कि अपराध का कारण भूख, ग़रीबी तथा अभाव है इस बात को लोग हमेशा से जानते तथा मानते आये हैं। ग़रीबी से ही लोग भीख माँगना शुरू करते हैं और अवारा भी हो जाते हैं। आवारापन (*vagrancy*) अपराध के लिये आदर्श क्षेत्र है। जब आदमी ईमानदारी से अपनी ज़रूरतों को पूरी नहीं कर पाते, तो वे चोरी आदि करने को विवश होते हैं।

ग़रीबी से नशेबाजी—सीधा रास्ता

यह भी पता लगाया गया है कि ग़रीबी की परेशानी को भूलने के लिये लोग नशा आदि पीने लगते हैं, टालस्टाय ने अपनी पुस्तकों में दिखलाया है कि लोग परेशानी को डुबा देने के लिये शराब पीते हैं। इस प्रकार ग़रीबी एक बड़ी हद तक *alcoholism* का कारण है, फिर शराब पीने तथा नशाओं से सब अपराध होते हैं यह तो एक आम बात है, जिसको अपराधविज्ञान के सभी विद्वानों ने माना है। अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि शेक्शपीयर ने तो शराब को साक्षात शैतान की संज्ञा दी है—

O thou invisible spirit of wine
If thou hast no name to be known by
Let us call thee devil

गारोफालो का ग़लत मत

हम पहिले ही बता चुके कि किस प्रकार लाफार्ग (*Lafargue*) नामक विद्वान् ने आटे के भाव के चढ़ाव-उतार तथा अच्छी या बुरी फसल से अपराग के आँकड़ों को मिलाकर देखा तो पाया कि वाक़ई इनमें समान्तरवाद (*Paralellism*) है। इन बातों के होते हुए भी गाब्रियल तार्द (*Tarde*) तथा गारोफालो ग़रीबी से अपराध का विशेष सम्बन्ध मानने के लिये तैयार नहीं। गारोफ़ालो कहते हैं कि यह ग़लत है कि समाज की पूँजीवादी-पद्धति के कारण अपराध की वृद्धि हुई। वे लिखते हैं "आज का जो आलसी चोर है कल साम्यवाद के आते ही वह साधु नहीं बन जायगा, बल्कि उस अवस्था में वह मिहनत से घृणा करनेवाला हो जायगा। ग़रीबी के चले जाते ही वह लोभ दूर नहीं हो जायगा जिसके कारण एक व्यक्ति चोर बनता है।" † गारोफालो यह जो कहते हैं कि जो व्यक्ति

† *Criminology by Garofalo*

वर्तमान समाजपद्धति के कारण (स्मरण रहे हम समाजपद्धति को एक ही में नहीं लेते) चोर बन चुका है, वह तो समाजपद्धति के बदलते ही साव नहीं हो जायगा, बहुत संभव है यह ठीक ही हो और पद्धति से उत्पन्न अक्सर चोर तब भी न सुधरें। यहाँतक तो हम गारोफालो के साथ हैं, किन्तु जब वे इस बात को मानने से इनकार करते हैं कि मूल कारण के दूर किये जाने पर भी रोग दूर न होगा तो हम उनके साथ जा नहीं सकते। गारोफालो (*cupidity*) या लोभ को शाश्वत (*eternal*) समझते हैं ऐसा ज्ञात होता है, यह उनकी गलती है जैसा कि हम ईर्ष्या (*jealousy*) का विश्लेषण करते समय दिखा चुके है। विकासवाद (*Evolution*) के अनुसार हमारी देह करीब-करीब निर्जीव सरीसृप (*reptile*) की देह का विकसित रूप है, उसी प्रकार हमारा मन, हमारे अनुभव (*feelings*) तथा भावुकतायें (*sentiments*) भी विकसित होकर बनी हैं, इसलिये ऐसा समझना कि चाहे कुछ भी हो वे वैसी ही रहेंगी ; जैसी कि वे हैं, बिलकुल बचपन से भरा तथा अवैज्ञानिक होगा।

शोषण का कुपरिणाम शोषक तथा शोषित दोनों पर

गारोफालो अपने इस तर्क को पुष्ट करने के लिये कि गरीबी से अपराध का कोई सम्बन्ध नहीं है आँकड़े पेश करते हैं कि अधिकतर अपराधी गरीब श्रेणी के नहीं हैं। भारतवर्ष के अपराधियों का जो विस्तृत ज्ञान मुझे है उससे मैं कह सकता हूँ कि गारोफालो के आँकड़े ठीक नहीं हो सकते, किन्तु मान भी लिया जाय कि गारोफालो के आँकड़े सही हैं, तो भी अपराध के सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त का हमने प्रतिपादन किया है उसमें कोई अड़चन नहीं आती, बल्कि ये आँकड़े उसको पुष्ट ही करते हैं। वर्तमान समाज की जो विषम व्यवस्था है, उससे समाज का भारसाम्य (*equilibrium*) नष्ट हो जाता है, इस भारसाम्य के नाश की दृष्टि से दायाँवाला पलड़ा ऊपर

रहे चाहे बायाँवाला, इससे कुछ जाता-आता नहीं। गारोफालो साहब का यह समझना कि वर्तमान समाज में एक तरफ अत्यन्त ग़रीबी तथा दूसरी ओर अत्यन्त अमीरी से केवल ग़रीबों में ही अपराध होगा बिल्कुल ग़लत है। भारसाम्य तो सारे समाज का हुआ, फिर गड़बड़ एक ही स्तर में दृष्टिगोचर क्यों होती? यह उचित ही है कि जैसे ग़रीबों का सिर ग़रीबी से फिर जायगा, वैसे ही अमीरों का सिर अमीरी से फिर जायगा। शोषण (*exploitation*) केवल शोषित के ही पतन का कारण नहीं होता, बल्कि शोषक को भी गिराता है।

आदिम समाज का उदाहरण

बोङ्गेर ने दिखलाया है कि आदिम समाजों में एक दल के लोग ज़रूरत के समय आपस में सब चीज़ों को बाँटकर उपभोग करते थे, क्योंकि धन का प्रयोग न जानने के कारण वे फालतू चीज़ (*surplus product*) को इस प्रकार बदल न सकते थे जिससे एक दिन की मिहनत अगले दिन काम आसके बोङ्गेर का यह भी कहना कि यह परोपकार की नींव एक ऐसी उत्पादन-पद्धति पर अवलम्बित है जो पूँजीवादी नहीं है, ऐसी समाज-पद्धति में आत्मकेन्द्री (*egotist*) भावों को बढ़ने की गुंजाइश नहीं। ऐसे समाज में स्वभावतः परोपकारी या परकेन्द्री (*altruistic*) भावों को तरक़्क़ी मिलती है, क्योंकि इसके बिना सारे समाज का ही सात्यानाश हो जायगा। इसके विपरीत पूँजीवादी समाज में आत्मकेन्द्री भावों को प्रोत्साहन, तरग़ीब तथा पुष्टि मिलती है, और परकेन्द्री भावों का गला घुट जाता है। बोङ्गेर का यह सारा तर्क रूसो के पवित्र आदिम समाज पर अवलम्बित है। डाक्टर गिलिन ने बोङ्गेर के इस आदिम समाजवाले तर्क के विरुद्ध कहा है कि आदिम समाज

में भी अपराध थे। वे कहते हैं "आदिम जातियों की प्रथाओं तथा कानूनों को देखने से पता चलता है कि आदिम जातियों में भी अपराधों के साथ युद्ध का वही पचड़ा लगा हुआ है, जो सभ्य समाजों में है।" † इसलिये वे इस बात का मजाक उड़ाते हैं कि, आर्थिक संगठन में परिवर्तन होते ही अपराधों का अन्त हो जायगा।

डाक्टर गिलिन का मत

मैं समझता हूँ डाक्टर गिलिन ने ऐसी समालोचना एक बड़ी ग़लतफ़हमी के कारण की है। बोङ्गेर के आदिम समाज में और गिलिन के आदिम समाज में विभिन्नता होने के कारण ही यह गड़बड़ी हुई है। आदिन समाज से बोङ्गेर का मतलब उस समाज का था जिसे मार्क्सवादी तथा अराजकवादी आदिम साम्यवादी समाज कहते हैं, हम यहाँ पर इस तर्क में न पड़ेंगे कि वाक़ई ऐसा कोई आदर्श समाज था या नहीं, या यह केवल साम्यवादी तथा अराजकवादियों की कपोलकल्पना है।' हमें इस लेख में इससे सरोकार नहीं। गिलिन जिस समाज का हवाला देते हैं वह आदिम तो है, किन्तु उसमें श्रेणी-संघर्ष है, इसलिये वह बोङ्गेर का आदिम समाज नहीं है। सच बात तो यह है कि गिलिन जिस समाज का उल्लेख कर बोङ्गेर की बात काटना चाहते हैं वह असभ्य अधिक है और आदिम कम। असभ्य समाज में श्रेणी संघर्ष था यह हम थोड़े में दिखाकर आगे बढ़ेंगे।

असभ्य जातियों में श्रेणी-संघर्ष

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त असभ्य समाज में 'टाबू' तथा छूतछात की धारणाओं के सम्बन्ध में कहते हुए लिखते हैं—

"*We Know that the spirit of taboo comes from the force*

† *Criminology and Penology by John LeWis Gillin Ph.D.*

of class-struggle as attested in the case ofpolynesians. When the upper classes proclaim certain things as taboos,the spirit of class arrogance and superiority lurk in the background. The upper classes in order to safeguard their privileges and to pose themselves as superior to the rest of the community, hedge themselves with lots of purificatory rites and prohibitions" †
अर्थात् "हम जानते हैं कि पोलिनेशियों के मामले में प्रमाणित हो चुका है कि टाबू की उत्पत्ति श्रेणी-संघर्ष की शक्तियों से हुई। जब कि ऊँची श्रेणियाँ कुछ चीज़ों को टाबू क़रार देतीं हैं, तो पाश्चात-भूमि में श्रेणी-घमंड़ तथा बड़प्पान छिपा है। ऊँची श्रेणियाँ अपनी रियायतों को सारे समाज से रक्षा करने के लिये तथा अपना बड़प्पन जताने के लिये तरह-तरह के छूतछत तथा निषेध की सृष्टि करती हैं।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आदिम समाज या आदिम जातियों में भी श्रेणी-संघर्ष था, बोङ्कर रूसो तथा अन्य समाजवादियों तथा अराजकवादियों की कल्पना का आदिम समाज या तो पहिले रहा होगा, या कभी न रहा होगा। जो कुछ भी हो प्रागैतिहासिक युग में कुछ भी रहा हो इससे हमारे मूल साध्य (*thesis*) में कुछ फ़रक नहीं आता कि अपराध की धारणा से शासक श्रेणी की सुविधा-असुविधा तथा स्वार्थ का गहरा सम्बन्ध है, और वर्तमान समाजपद्धति की विषमतायें ही अपराधों की जननी हैं।

आर्थिक मन्दापन और अपराध

व्यापार के चक्रों (*business cycles*) तथा आर्थिक मन्दी (*depressions*) के साथ अपराध का मिलान करने पर यह पता

† *Notions on purification and taboo in society by Bhupendranath Dutt A.M. D.Phil, 1940*

लगा है कि इनका प्रभाव अपराधों के प्रादुर्भाव पर स्पष्ट है। हिरश (*Hirbes*) ने जर्मनी में इन पर खोज की तो वे इसी नतीजे पर पहुँचे। अमेरिका में ओगबर्न (*Ogburn*) ने इस बात को दिखलाया है कि व्यापार की मन्दी के दिनों में अपराध कहीं अधिक होते हैं। १६०० से १६२० तक १०० नगरों के सम्बन्ध में आँकड़ों के परिशीलन के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे कि चीज़ों का महँगापन तथा बेरोज़गारी से अपराध का गहरा सम्बन्ध है।

बेकारी में अपराध

बेकारी से अपराध का बहुत ही क़रीब का रिश्ता है, बेकार व्यक्ति यदि अपराध करने पर उतारू हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? गाब्रियल तार्दे ने तो कहा है कि काम ही अपराध का शत्रु है। यह बात बिल्कुल सच है। यदि कोई रोजगार से लगा हो तो, वह शायद ही अपराध करे। बोङ्गर ने कहा है कि बेकार मनुष्य अक्सर शराब पीने लगते हैं, फिर शराब से क्या-क्या होता है यह तो पता ही है। अंग्रेज़ी में जो पुरानी कहावत है '*An idle man's brain is the devil's workshop*' याने आलसी आदमी का दिभाग़ शैतान का कारखाना है यह कोई अत्युक्ति नहीं, इसके साथ ही जब भूखों मरने का डर है, तो फिर उस अवस्था का क्या पूछना। बेकार व्यक्ति ऋण करता है, और ऋण तो दुःख का अग्रदूत है। बेकारलोग जूआ खेलना चाहेंगे यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि रातभर में धनी होने की जरूरत उन्हें ज्ञात होती है। बेकारी तथा ग़रीबी में दिल बहलाने के लिये या इकरसता *Monotony* से बचने के लिये मैथुन *Sexual intercourse* बहुत सूझता है, क्योंकि अन्य दिल बहलाने के तरीके, सिनेमा, नाचघर, खेल *Sports* उनके लिये बन्द हैं, इस प्रकार यदि वे विवाहित हुए तो उनके बच्चे अधिकसंख्या में पैदा होकर उनके दुःख

को और बढ़ा देते हैं, और यदि विवाहित न हुए तो तरह-तरह की विपरीत क्रियाओं *Sexual perversion* में व अपने सर्वनाश का पथ प्रशस्त कर लेते हैं।

ग़लत तर्क का उत्तर

फिर भी डाक्टर गिलिन इस बात को मानने से इनकार करते हैं कि बेकारी से अपराध को उत्तेजना मिलती है। अपने कथन के प्रमाण में वे कहते है कि जेल में आनेवालों के आँकड़ों से पता लगता है कि १५ से बीस फ़ी सदी से अधिक लोग इनमें से बाहर बेकार नहीं थे। मेरा यह वक्तव्य है कि डाक्टर गिलिन जिन आँकड़ों पर निर्भर कर यह बात कहने की हिम्मत करते हैं वे सत्य से कहीं दूर हैं। ये आँकड़े क़ैदियों को प्रश्न किये जाने के फलस्वरूप इकट्ठे होते हैं, नतीजा यह होता है कि चूँकि सभी अभियुक्त अदालत में यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि वे बेकार नहीं बल्कि हिल्ले से लगे हुए हैं क्योंकि ऐसा कहने से अदालत उनको प्रथम दृष्टि (*at first sight*) में ही अपराधी नहीं समझेगी, ऐसा उनका ख्याल है। मैंने प्राय: चौदह साल के जीवन में जेल में बड़ा से बड़ा आवारा (*vagrant*) देखा है जिनके अपने कथन के अनुसार सिवा अपराध के कोई रोज़गार का ज़रिया न था, किन्तु उनके टिकट (*history ticket*) को जो देखा तो उस पर खेती, दूकानदारी, नौकरी कुछ न कुछ लिखा हुआ पाया। मज़े की बात है कि जिनको १०६ ऐसी दफ़ामें सज़ा हुई, उनके टिकट पर भी खेती, दूकानदारी, नौकरी इत्यादि लिखा हुआ पाया, यद्यपि १०६ का अर्थ ही यह है कि इसके अनुसार सज़ा पाये हुए व्यक्ति का कोई ठीक रोज़गार नहीं था, इसलिये उसे सन्देहवश या 'एहतियातन' जेल में रक्खा गया है। मैं नहीं समझता कि अमेरिका के इस सम्बन्ध के आँकड़े भारतीय जेलों के आँकड़ों से कुछ अधिक अच्छी तरह इकट्ठे किये गये होंगे, फिर

भी जो वहाँ १५ से २० फी सदी लोगों ने अपने को बेकार लिखाया है इसकाकारण यह है कि वहाँ बेकारों को सरकार की ओर से भत्ता मिलता है, वे इस भत्ते को पाते थे, और छूटने के बाद आगे भी पाना चाहते होंगे, इसलिये उन्होंने अपने को मजबूरन अदालत तथा जेल में बेकार लिखाया है।

उपसंहार

संक्षेप में अब हम इस अध्याय का नीचोड़ लिखते हैं। पहिली बात तो यह है कि अपराध की कोई सार्वकालिक परिभाषा नहीं है, न हो सकती है क्योंकि शासक श्रेणी ही क्या अपराध है और क्या नहीं है इसका निर्णय देते समय अपने श्रेणी-स्वार्थों का पूरा-पूरा ख्याल रखती है। इसको पुष्टि में हम एक और प्रमाण उद्धृत करेंगे डाक्टर हाम्बलिन स्मिथ एम० ए० एम० डी तीस साल तक इंग्लैंड के जेल विभाग में उच्च अधिकारी थे वे कोई साम्यवादी नहीं, किन्तु वे साफ शब्दों में लिखते हैं —

The dominating class interest at any particular time is the main influence on penal legislation † याने 'किसी भी समय में शासक श्रेणी के स्वार्थ की ही दृष्टि से अपराध-सम्बन्धी सजा के कानून बनते हैं।' हमारे अनुसार दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपराधों के मौलिक कारण तो सामाजिक-आर्थिक (*socio-economy*) शक्तियाँ होने पर भी द्वितीय कारण महत्त्वपूर्ण हैं, और एकबार उत्पन्न हो जाने पर वे बड़ी हद तक मूल कारण से स्वतंत्र रूप में कार्यशील होकर अपराध में वृद्धि करते हैं। ऐसी हालत में मूल कारणों को दूरीभूत करना समाजशास्त्री का सब से महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होने पर भी व्यक्ति के क्षेत्र में द्वितीय कारण को दूर कर देना भी महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से देखे जाने पर मनोव्याधिविज्ञान (*Psyco-*

† *Prisons by H. Hamblin Smith M. A. M, D. (p. 5)*

pathology), मनोचिकित्सा (*psychiatry*), स्वप्राद्रुभूत विचार (*Autosuggestion*) आदि का महत्त्व अस्वीकर नहीं किया जा सकता। अपराधी के शरीर तथा मनोवृत्तियों का इस दृष्टि से पुङ्खानुपुङ्ख विश्लेषण होना लाभजनक होगा। चौथी बात जो मार्के की है कि समाजपद्धति के बदलते ही कोई जादू की उम्मीद न की जाय, बहुत सी धारणायें तथा भावुकतायें जो इस समाजपद्धति की उपज हैं, उनके जाने में देर लगेगी। रूस में अपराध के साथ अब भी लड़ाई जारी है, क्योंकि पहिले के असामाजिक उपादान (*anti-social element*) अब भी राहेरास्त पर न लाये जा सके।

२

सज़ा का विधान तथा विकास

पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक

पाप के साथ ही प्रायश्चित्त की धारणा बहुत पुरानी है, बल्कि सच बात तो यह है कि पाप-पुण्य के साथ स्वर्ग-नरक, सज़ा-जज़ा तथा प्रायश्चित्त का अनिवार्य सम्बन्ध प्रत्येक देश, काल, तथा धर्म में रहा है। स्मृतियों में प्रत्येक पाप के लिये प्रायश्चित्त का विधान है, इन प्रायश्चित्तों के विधान में प्राय: सभी क्षेत्र में ब्राह्मणों को दान देना शामिल है। यह बात क्यों है इसका समझना कठिन नहीं, क्योंकि ब्राह्मण पहिले शासक थे, या शासकों के शासक थे। शान्ति, स्वस्त्ययन किसी भी प्रक्रिया की क्यों न सिफारिश की गई हो, चाहे वह बचाव (*prevention*) के रूप में की जानेवाली हो, चाहे पाप को दूर करने के लिये की जानेवाली हो उसमें ब्राह्मणों को आलसी बनाये रखने के काफी साधन रक्खे गये हैं। अभी स्मृतियों के प्रायश्चित्त सम्बन्धी विधान का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया है, यदि किया जाय तो मुझे इसमें सन्देह नहीं कि उससे उस समय के भारतीय समाज के आधारभूत विचारों पर काफ़ी रोशनी पड़ सकती है। स्वर्ग और उससे भी नरक के अध्ययन से, भी इस प्रकार काफ़ी मसाला हमारे समाजशास्त्रियों (*socialogists*) के हाथ लग सकता है।

स्मृतियों में सज़ा का विधान

स्मृतियों के ज़माने में एक जेल के सिवा मेरे ख़्याल में सभी

सजाओं का विधान मिलता है। इसका कारण यह होगा कि जेलें नहीं थीं। जो कुछ भी हो स्मृतियों में ऐसे पापों की संख्या कम नहीं है, जिनके लिये मृत्यु का विधान है, अवश्य यह मृत्यु का विधान कौन कार्य रूप में परिणत करेगा, पापी स्वयं या समाज के शासक इसका सब जगह पर खुलासा वर्णन नहीं है। कहीं-कहीं तो ऐसा मालूम होता है जैसे यह अपराधी की इच्छा पर है। बात यह है समाज ज्यों-ज्यों संगठित होता गया त्यों-त्यों सज़ा का कड़ाई से बरतबा जारी हुआ। दो व्यक्ति में लड़ाई हो, और एक मर जाय, तो मरे हुए के परिवारवाले हत्याकारी से कुछ लेकर तथा अपराधी से प्रायश्चित्त करवाकर याने ब्राह्मणों को कुछ दिलवाकर उसका तसफ़िया कर सकते थे। यदि सच कहा जाय तो स्मृतियों में जिन विधानों का ज़िक्र है, वे एक युग के नहीं हैं, कोई यायावर *Nomadic* युग का है, तो कोई चरवाही *Pastoral* युग का है, तो कोई खेती *Arable* के युग का है, कोई उसके बाद के युग का है। इसलिये उनमें न कोई सामंजस्य है, न कोई एक ढंग। कहीं-कहीं तो एक ही स्मृति में एक ही बात के लिये दो तरह की राय है, इससे ज्ञात होता है उसमें भी एक ही युग की बात नहीं है।

पुराणों में कारागार

पुराणों में जेल या कारागार का नाम कई बार आता है। स्वयं कृष्ण जेल में पैदा हुए थे ऐसा लिखा है, किन्तु ज्ञात होता है कि रात को वे जिस जेल में पैदा हुए उस पर कोई विशेष पहरा नहीं रहता था, तभी तो वसुदेव के लिये यह संभव हुआ कि वे जाकर लड़का बदल सकें। देवकी की जेल क्या, मालूम होता है कुछ नजरबन्दी-सी थी। इसके बाद हमें जरासन्ध की जेल का कुछ वर्णन मिलता हैं, उसमें बहुत से राजा बन्द थे। जरासन्ध की जेल को तोड़कर राजाओं को रिहा करना कृष्णभक्तों के लिये उतनी ही बड़ी घटना

हैं, जितनी बड़ी घटना बास्तिल का टूटना *Storming of Bastille* क्रान्ति के चाहनेवालों के लिये है। इसी प्रकार रावण ने कुछ देवताओं को .कैद रक्खा था, इसका भी उल्लेख आता है। कंस ने अपने बाप उग्रसेन को .कैद रक्खा था, किन्तु ये सभी जेलें लेखक के अनुसार दुष्टों के लिये न होकर शिष्टों के लिये थीं, इसलिये उनका वर्णन विश्वास-योग्य नहीं तथा अतिरंजित है। अपनी रचना के वीरों को इस प्रकार बढ़ाने के स्वाभाविक प्रलोभन से वे बच न सके। फिर ऊपर जिन कारागारों का वर्णन है, उनमें केवल जरासन्ध की जेल ही वास्तविक जेल थी ऐसा मालूम पड़ता है, और लोग तो एक बँगले में नज़रबन्द की तरह थे। जरासन्ध की जेल में अँधेरा था, लोगों को ज़ंजीरें पड़ी हुई थीं, इसका तो वर्णन है, किन्तु कैदियों को कोई कड़ी मशक़्क़त करनी पड़ती हो या उनकी .कैद की कोई मीयाद थी इसका वर्णन नहीं मिलता। उनके खानेपीने का भी कोई वर्णन नहीं मिलता। जो कुछ भी हो जेल की धारणा काफ़ी पुरानी है, यद्यपि इसके साथ यह भी बता दिया जाय कि .कैदियों से मशक़्क़त लेने का ख़याल बिल्कुल आधुनिक है। हम आगे इसकी आलोचना करेंगें।

सज़ा का आदिम रूप—बदला

सज़ा के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त निकलें हैं, किन्तु सज़ा का सब से आदिम रूप इन्तक़ाम, बदला या *Vengeance* है इसमें सन्देह नहीं। जिस समय समाज अभी बँध नहीं पाया था, व्यक्ति अभी समाज के मातहत कम हुआ था, उस समय व्यक्तिगत बदला का ही बोलबाला था। यदि किसी को कोई कुछ नुकसान पहुँचाता था, तो या तो वह स्वयं उसका बदला लेता था, या उसका लड़का या कोई क़रीबी उस बदले का ऋण चुकाता था। बाद के समाज में ऋण जैसे अवश्य चुकानेवाली चीज़ हो गई, वैसे ही आदिम समाज

में या उससे भी पहले बदला लेना कर्तव्य समझा जाता था। अब भी बहुत-सी असभ्य जातियों में वैयक्तिक बदला *Private vengeanee* एक आवश्यक कर्तव्य समझा जाता हैं। जो लड़का अपने बाप की हत्या का बदला नहीं लेता वह कपूत समझा जाता है। दूर जाने की जरूरत नहीं; अफ्रीदी, उटमनजई आदि सरहद की कौमों में अभी तक इसी प्रथा का जोरशोर है। कुछ लोगों का कहना हैं कि बदला लेने की प्रवृत्ति एक बिल्कुल ही स्वाभाविक तथा आम तरह से फैली हुई मनुष्य प्रवृत्ति है, इसका समर्थन वे इस प्रकार करते हैं कि बच्चे को यदि किसी निर्जीव चीज से ठोकर लगे, तो वह उस पर भी हमला कर देता है, और जब उसकी मा उस निर्जीव चीज पर प्रहार करती है, और उसकी चोट को फूँक देती है, तब कहीं उसे तसल्ली होती है, और वह रोना बन्द करता है। यह सिद्धान्त कहाँ तक विश्वव्यापी है यह कहा नहीं जा सकता, साथ ही इस पर छानबीन करना एक बहुत ही मुश्किल काम है क्योंकि मनुष्य जाति में छोटे-छोटे समाज पहले पैदा हुए या परिवार पहले पैदा हुए इस विषय में विद्वानों का एकमत नहीं हैं। राजकुमार क्रोपटकिन मानते हैं कि पहिले मनुष्य झुंड बाँधकर रहनेवाले जानवरों की तरह रहते थे, फिर उनमें परिवार *Family* की उत्पत्ति हुई।

सामूहिक बदला

वे लिखते हैं "परिवार नहीं, समाज, गिरोह या कबीले ही मनुष्यों की सब से आदिम संस्था हैं।" † जो कुछ भी हो हमारे विषय के लिये इसका निर्णय अनिवार्य नहीं है। चाहे परिवार की उत्पत्ति पहिले हुई हो चाहे कबीले *Tribe* की दोनों हालतों में जो उसके नियम के विरुद्ध चलकर उसे विपत्ति में डालता था, उसको सजा दी जाती थी, और इस सजा का रूप बदला ही होता

---

†*Mutual Aid by Prince Kropotkin, Pelican ed., page 70*

था। इसमें सुधारने का कोई भाव नहीं होता था, हाँ साथ ही दूसरों को नसीहत करने का भाव *Deterrent* अवश्य छिपा होता था। बन्दरों की अक्सर जातियों तथा भेड़िये आदि जानवरों के गिरोह का यदि कोई सदस्य कोई असामाजिक कार्य करे तो उस पर अन्य सब सदस्य टूट पड़ते हैं, और मिनटों में उसे फाड डालते हैं। दल बाँधकर चलने के युग में मनुष्यां में पहिले-पहल यही रिवाज होगा। अब भी अमेरिका में जो लिंचिंग *Lynching* प्रथा है, उसमें हम इसी आदिम प्रथा को जीवित पाते हैं। अमेरिका में यदि कोई हबशी किसी गोरी लड़की पर बलात्कार करता है, छेड़छाड़ करता है, या समझा जाता है कि उसने ऐसा किया तो उस पर गोरे टूट पड़ते हैं, उसे पेड़ में टाँग देते है, या ज़िन्दा जला देते हैं। वर्तमान युग में यह क़बीले के बदले *Tribal Vengeance* का ही रूप हैं। इस प्रथा का उद्देश्य अपराध के लिये सज़ा देना उतना नहीं जान पड़ता जितना जातिगत बदला (*racial vengeanee*) लेना है। इस प्रथा के पीछे अनिवार्य रूप से जातिगत उच्चता (*racial superiority*) का विचार है, साथ ही इसमें जातिगत पवित्रता (*purity*) को कायम रखकर इस उच्चता को स्थायी रखने का विचार है। जिस जाति में यह प्रथा है वह कहाँ तक सभ्य है यह विचार्य है अस्तु।

सज़ा के सम्बन्ध में सेनेका का मत

प्राचीन काल में सज़ा दिये जाने को अनिवार्य समझने के साथ कोई सुधार की धारणा नहीं थी। ग्रीकों में सेनेका (*Seneca*) बहुत बड़े दार्शनिक हुए हैं। ईसापूर्व ३ से लेकर सन् ६५ तक वे वर्तमान थे। उन्होंने लिखा है † "सज़ा देने में क़ानूनके तीन उद्देश्य हैं

(१) अपराधी का सुधार करना

(२) समाज की भलाई के लिये एक उदाहरण पैदा करना

† *As quoted in 'Imprisonment' by Colonel Barker p.5.*

(३) या समाज के कल्याण के लिये उसे बिल्कुल हटा देना।"

इस प्रकार सेनेका के नज़दीक अपराधी का सुधार करना भी सज़ा का एक मुख्य उद्देश्य है।

सज़ा की हिन्दू-धारणा

किन्तु हम हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों को देखते हैं, तो उसमें यह धारणा पाते ही नहीं, या पाते भी हैं तो उसको एक अपार्थिव (*unworldly*) रूप में। बात यह है कि हिन्दुओं के सारे दर्शनशास्त्र का मौलिक विचार कर्म तथा कर्मफल है, इसलिये उसमें दुष्कर्मकारी के सुधार की तभी गुंजाइश है जब वह अपने दुष्कर्मों को भोग चुके याने उसकी सज़ा को भोग चुके। हिन्दू-दर्शन का सार यह है कि बुरा से बुरा आदमी सुधरेगा, किन्तु इसी जन्म में सुधरेगा इसका कोई ठेका नहीं। संभव है उसको कई जन्म लग जाय। जब देखो तब दुष्कृतों के विनाश की बात है। गीता में है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

याने दुष्कर्मकारी के विनाश की ही धुन है। 'संस्काराय च दुष्कृताम्' भगवान के आने का उद्देश्य नहीं, बल्कि दुष्टों के विनाश के लिये ही वे आते हैं। राम रावण को विनष्ट करते हैं, तथा कृष्ण कंस का संहार करते हैं, यही इन अवतारों का काम है, किन्तु इस सम्बन्ध में एक द्रष्टव्य बात यह है कि रावण तथा कंस मरने के बाद स्वर्ग जाते हैं क्योंकि इस प्रकार सज़ा भुगतने के बाद वे शुद्ध (*purified*) हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि अपरोक्ष रूप से सज़ा के साथ शुद्धि की धारणा संलग्न है, अतएव हिन्दू धारणा में सज़ा या विनाश केवल बदला ही नहीं है, बल्कि शुद्धि है। शुद्धि और सुधार में कोई विशेष प्रभेद नहीं है, यद्यपि सुधार एक पार्थिव चीज़ है और इसी जन्म से उसका सम्बन्ध है; किन्तु कोई यदि एक

जन्म में नहीं सुधरा तो इसमें घबड़ाने या निराश होने की बात नहीं है, वह कर्मभोग द्वारा किसी अगले जन्म में सुधरेगा। यही संक्षेप में सज़ा का हिन्दू ख़्याल है। कहना न होगा कि ये विचार कितने भी आशावादी हों, किन्तु पार्थिव दृष्टि से (*from a worldly point of view*) विशेष सहायक नहीं हो सकते।

इन्द्र और अहल्या का दृष्टान्त

अब हम एक उदाहरण को लेकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। देवताओं के राजा इन्द्र बड़े मनचले थे, अपनी स्त्री शची से उनकी तबियत नहीं भरती थी, इसलिये वे कभी-कभी इधर-उधर हाथ मार लेते थे। गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या परम सुन्दरी थी, इन्द्र ने जो उन्हें देखा तो उनका जी ललच गया। गौतम ऋषि कहीं बाहर गये थे, वे एक तजर्बेकार छिनरे की तरह उसी समय गौतम का चेहरा बनाकर पहुँचे, और अहल्या के साथ पति का व्यवहार किया। इस प्रकार वे इंडियन पेनल कोड के बलात्कार की दफ़ा ३७६ † के दोषी हुए। इस अपराध के कारण दोनों दोषी अर्थात् अशुद्ध हो गये। अहल्या को इसके लिये वर्षों तक पत्थर होकर बिताना पड़ा, जब राम अवतार हुए तो वह सुधर कर फिर अपने रूप में हो गई। उधर इन्द्र के शरीर भर में भग ही भग (गर्मी ?) निकले, बहुत दिनों में वे आराम हुए। दोनों इस प्रकार सज़ा पाने के बाद शुद्ध हो गये।

---

† *I. P. C.* के अनुसार बलात्कार की परिभाषा में यह भी आता है कि '*With her consent, when the man knows that he is not her husband and that her consent is given because she believes that he is another man to whom she is or believes herself to be lawfully married,* यह परिभाषा ३७५ दफ़ा में दी गई है। इस अपराध की सज़ा का विधान ३७६ दफे में दियागया है जो कालेपानी तक है।

अन्य उदाहरण

इसी प्रकार परशुराम की माँ को परशुराम ने पिता की आज्ञा से मार कर शुद्ध किया, क्योंकि गन्धर्वों को क्रीड़ा करते देख परशुराम की माता का मन विचलित हो गया था। राजा दशरथ को भी श्रवणकुमार के वध के लिये पुत्रशोक से मरना पड़ा था। युधिष्ठिर तक कर्म भोग से नहीं बचे।

क़ानून की चिरस्थायिता की धारणा

प्रत्येक ज़माने के लोग इस बेवकूफ़ी में मुब्तिला रहे कि जो क़ानून वे बना रहे हैं वह चिरकाल के लिये बना रहे हैं। वे यही समझते रहे कि यह क़ानून जो उन्होंने बनाया वह समाजशास्त्र का अन्तिम शब्द है। इसीलिये धर्म, *Law* तथा ईमान का जहाँ भी प्रयोग मिलता है उसमें यही अपरिवर्तनीयता (*immutability*) की बू है मानो इनकी जो धारणा तब थी वही हमेशा रहेगी। बाइबल में बड़े ज़ोरशोर से कहा गया है *Sin is the transgression of the law* † या कानून का भंग ही पाप है। जैसे क़ानून कोई अपौरुषेय, अपरिवर्तनीय वस्तु है। केवल *dialectics* के जाननेवाले ही जानते हैं कि यह दावा ग़लत है। जैसा कि मैंने पहिले ही बतलाया है कि शासक श्रेणी के साथ ही क़ानून बदलते हैं। इस बात से हिन्दू शास्त्रकार सम्पूर्ण अनभिज्ञ थे ऐसा नहीं, उन्होंने लिखा है 'धर्मो रक्षति रक्षित:' इसका यदि अंग्रेजी में अनुवाद किया जाय तो यों होगा *The Law preserves the status quo*, याने कानून से जो है उसकी रक्षा होती है।

पुराने अहदनामे में आँख के बदले आँख

बाइबल के पुराने अहदनामे (*Old Testament*) में बदला लेने के बहुत से उदाहरण हैं। यहूदी कानून में आँख के बदले आँख

† *I John, iii, 4.*

तथा दाँत के बदले दाँत लेने का विधान है।(१) होरेस विन्डहैम इस विधान के विषय में कहते हैं, "नैतिक रूप से इस विधान के पक्ष में कहने के लिये चाहे कुछ भी नहीं हो, क्योंकि अब परिस्थितियां बिल्कुल बदल गई हैं, किन्तु इतनी बात अच्छी है कि इसमें कोई ऐसा वाहियात दावा नहीं किया गया है कि इससे किसी का सुधार हो रहा है या किसी को नसीहत हो रही है। (२)"

बदले की प्रवृत्ति स्वाभाविक

"यह कहा गया है कि बदले की प्रवृत्ति की मौजूदगी के कारण ही प्रतिहिंसात्मक (*retributive*) सज़ा का समर्थन होता है। स्टिफेन ने बतलाया है (३) कि क़ानूनी सज़ा से बदला लेने का वही सम्बन्ध है जो मैथुन की इच्छा से विवाह का है, याने इस प्रकार यह एक स्वभाविक प्रवृत्ति को क़ानूनी रूप से तृप्त करता है।" (४)

केवल बाईबल के पुराने अहदनामे में ही नहीं सभी प्राचीन जातियों में पाप और अपराध की धारणा मिली-जुली थी। ओपेनहाइमेर ने लिखा है "आदिम समाज में अपराध और पाप की धारणा क़रीब-क़रीब एक थी।" (५) मैंने पहिले ही लिखा है कि यह तभी था जब पापपुण्य के क़रार देनेवाली श्रेणी का ही राज्य रहा, किन्तु जब उत्पादन पद्धति में क्रान्ति हो जाने से दूसरी श्रेणी का शासन हुआ तो अपराध और पाप में प्रभेद पड़ने लगा। आदिम समाजों में या पुराने अहदनामे में ही बदला सज़ा का एकमात्र

---

(१) *Criminology by Horace Wyndham, p. 21.*

(२) *Ibid.*

(३) *History of Criminal law of England 1883, Vol. 2, p. 82.*

(४) *Prisons by H. Smith, p. 74.*

(५) *Rationale of punishment by Oppenheimer*

उद्देश्य बतलाया गया हो ऐसा नहीं बल्कि सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कैन्ट ने भी बदले के भाव का अनुमोदन किया है। कैन्ट के मत पर रोशनी डालने के पहिले यह बता देना ज़रूरी है कि आँख के बदले आँख भी पहले क़ानून से अच्छा था जिसमें आँख के बदले जान या पूरे परिवार का विनाश तक उचित था।

कैन्ट का मत

उन्होंने अपने *Metaphysik der Sitten* में लिखा है "कानूनी सज़ा देने का उद्देश्य केवल समाज या अपराधी का कल्याण नहीं है, बल्कि क़ानूनी सज़ा अपराधी को केवल इसी एक कारण से देना उचित होगा कि उसने एक अपराध किया है।" (१) "कैन्ट के अनुसार सज़ा का यह सिद्धान्त *categorical imperative* है। कैन्ट इस बात पर ज़ोर देते हैं कि किये हुए अपराध तथा दी जानेवाली सज़ा में सदृशता हो, तथा ऐसा होने पर ही मालूम हो सकता है कि एक अपराध की सज़ा क्या और कितनी हो। उनका कहना है कि अपराधी ने जो हानि की है उसी के परिणाम को देखते हुए सज़ा दी जानी चाहिये, और किसी भी कारण से उसे जो दुःख दिया जानेवाला हो उसमें कमी न की जाय। कैन्ट इस बात पर भी ज़िद् करते हैं कि जो अपराध का तरीक़ा रहा है, सज़ा भी उसी तरीके की हो।"(२)

कैन्ट के सिद्धान्तकी जाँच

कैन्ट के इस सिद्धान्त की विवेचना हम बाद को करेंगे, किन्तु पहिले हम दिखा दें कि यह धारणा नये ढंग से रक्खे जाने पर भी

(१) *As quoted in Prisons by H. Smith, P. 75.*
(२) *Ibid.*

नई नहीं है। कैन्ट जर्मनी की उठती हुई तगड़ी पूँजीपति-श्रेणी के दार्शनिक थे, उनका उद्देश्य इस श्रेणी के राष्ट्र (*state*) को ज़ोर पहुँचाकर उसे परम शक्तिशाली (*absolute*) बनाना था, इसलिये उन्होंने बदले के कानून को एक नये रूप में पेशकर उसके रगों में नय :ख़ून पहुँचाना चाहा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

POETIC PUNISHMENT

सज़ा उसी तरीके की हो जिस तरीके का अपराध है यह धारणा बहुत पुरानी है। इसको *poetic punishment* या कविजनोचित सज़ा कहते है। स्वयं भारतवर्ष में इस प्रकार का विधान पाया जाता है कि जिस इन्द्रिय से अपराध किया जाता है, उस इन्द्रिय का भंग किया जाता था, या उसे कष्ट पहुँचाया जाता था। वेद सुनने के अपराध के लिये शूद्र के कानों में जलता हुआ सीसा डाल देने का विधान कहीं है ऐसा मुझे याद पड़ता है, क्योंकि स्वामी विवेकानन्द ने इस विधान की निन्दा की है। उपनिषदों में एक ऋषि ने अपना हाथ इसलिये कटवा डाला था कि उन्होंने न कहकर किसी के बगीचे से एक फल तोड़ लिया था। सच बात तो यह है कि १८०३ के रेगुलेशन तीन के पहिले तक भारतवर्ष में बड़े-बड़े अपराधों के लिये इस तरीके की सज़ायें प्रचलित थीं। (१) यूरोप-एशिया की विभिन्न जातियों में आँख के बदले आँख, चोरी के लिये हस्त-च्छेद, झूठी शहादत के लिये जीभ काट लेना तथा बलात्कार के लिये नपुंसक कर दिये जाने की सज़ा का प्रचलन था। अपराधियों को अक्सर दाग़ भी दिया जाता था। स्विज़रलैंड में *Baptists* को डुबाकर मार डाला जाता था क्योंकि वे लोगों को धर्मस्नान कराकर अपने सम्प्रदाय में भर्ती करते थे। फ्रान्स में आग लगानेवालों को

(१) *Imprisonment by Colonel Barker, p. 65* .

ज़िन्दा जला दिया जाता था (१) मध्य युग में यदि कोई धर्म-विरोधी *Heretic* यहूदीधर्म का प्रचार करता था, तो उसको सुअर के मांस पर ही जीवित रक्खा जाता था। (२) यह इसलिये कि सुअर के मांस को यहूदी हराम समझते हैं।

जुर्माने का रिवाज

पहिले ही कहा जा चुका है कि ब्राह्मणों के क़ानून में बहुत से अपराधों के लिये ब्राह्मण को दान, भोजन तथा दक्षिणा देने का विधान है। देवताओं के रूठ जाने पर भी ब्राह्मण को दान देकर उसकी शान्ति हो सकती थी। यह एक तरहं का जुर्माना था, किन्तु ब्राह्मणों के हक़ में। बदले के रिवाज के साथ ही साथ अपराधी से जुर्माना लेकर उसे बदले के नियम से मुक्त करना भी एक प्राचीन रिवाज है। व्रात्य (*Nomad*) या बद्दू जातियाँ अधिकतर बदले में ही विश्वास रखती थीं, किन्तु स्थायी तरीके से बसी हुई जातियाँ क्षतिपूर्ति (*Compensation*) मिल जाने पर तसफिया कर लेती थीं, ऐसा कई विद्वान् लिखते हैं। आर्थिक कारणों से ही ऐसा होता था। बद्दू जाति को बदले से मतलब था, क्योंकि उनको ज़मीन तथा स्थावर सम्पत्ति में दिलचस्पी नहीं किंतु थी, बसी हुई जाति के लोगों में ज़मीन, धन आदि लेकर तसफिया कर लेना उनकी उत्पादन पद्धति के अनुसार ही थी। अरब में जिस समय मुहम्मद साहब आये, उस समय बदला लेने की प्रथा का ज़ोर था, मुहम्मद साहब ने इसको रोका, और क्षतिपूर्ति की प्रथा को ज़ोर पहुँचाया। सैक्सन जाति में *Dooms of Alfred* एक विधान हैं, इसमें दाँत तोड़ने के बदले कितने तथा आँख के बदले कितने शिलिङ्ग, देने चाहिये आदि का-

---

(१) *Prisons by Smith, p. 23*

(२) *Criminology and Penology by Dr. Gillin.*

विस्तृत वर्णन है। इसके अनुसार चबाने के दाँतों (*Molar teeth*) के लिये १५ शिलिङ्ग क्षतिपूर्ति देने का विधान है। फ्रैंकों के सैलिक कानून (*Salic law*) के अनुसार भी स्वाधीन फ्रैंक था। फ्रैंक कानून के अधीन रहनेवाले असभ्य की हत्या के बदले में ८०० दीनार देने पड़ते थे। इस क्षतिपूर्ति का आधा मृत व्यक्ति के लड़कों को मिलता था, और आधा उसके रिश्तेदारों में बाँट दिया जाता था। स्वीडन में हत्या के लिये जो क्षतिपूर्ति ली जाती थी उसको *Chinbote* कहते थे। (१)

सैक्सनों तथा नार्मनों में अंगच्छेद

"सैक्सनों में एथलस्टेन एक राजा हो गया है, उसके ज़माने में अक्सर अपराधियों का अंगच्छेद किया जाता था, अर्थात सज़ा के तौर पर नाक काट ली जाती थी; कान, ओठ काटे जाते थे या आँखें निकाल ली जाती थीं। कभी-कभी तो ऐसा हुआ है कि अपराधी को सिर्फ़ थपड़ियाया जाता था जिससे उसको सज़ा की सज़ा दी जाय और उसकी आत्मा की रक्षा हो याने कोई अंगहानि न हो। विलियम नर्मान (सन् १०६६) के ज़माने में यह हुक्म निकला कि अपराधी को एकदम मार न डाला जाय, बल्कि उसको जहाँ-तहाँ काटा जाय, और छोड़ दिया जाय, जिससे कि यदि वह बच जाय तो दूसरों को सबक़ हो। (२), (३)"

यहूदियों की *Sanctuary* प्रथा

यहूदियों में एक प्रथा यह थी कि यदि किसी व्यक्ति से कोई अपराध हो पड़ता, और वह यदि चाहता कि उससे बदला न लिया जाय, तो वह भागकर पवित्र स्थान में आश्रय ले सकता था। ऐसे

(१) *Ibid.*

(२) *History of penal methods by George Ives.*

(३) *Imprisonment by Colonel Barker.*

पवित्र स्थान को *Sanctuary* कहते थे। ऐसे स्थान पर पहुँच जाने पर अपराधी को कोई छू नहीं सकता था। ऐसे कई स्थान थे। किन्तु अपराधी इस स्थानमें अपने मुक़द्दमेके फैसले तक ही सुरक्षित रह सकता था। इस बीच में इस विषय पर विचार होता कि अपराधी से जो अपराध हो पड़ा है वह इच्छाकृत था या नहीं, यदि यह पाया जाता कि अपराध इच्छाकृत था, तो फिर अपराधी को कोई बचा नहीं सकता था। उस अवस्था में तो उस पवित्र स्थान का रखवारा पुरोहित हट जाता, और बदला लेनेवाले को बदला लेने की अनुमति दे देता। कहना चाहिये कि यह पवित्र स्थान एक तरह का हवालात था। बाद को जब हम जेलों के इतिहास पर आलोचना करेंगे, तो पाठकों को ज्ञात होगा कि जेलों का प्रारंभ हवालात से हुआ। अरबों में भी इसी प्रकार के पवित्र स्थान थे, जहाँ अपराधी बदले से बचकर रह सकते थे। क़ाबा इनमें से मुख्य था।

बदले पर रोकथाम

जैसे कुछ स्थान ऐसे थे जहाँ बदला नहीं लिया जा सकता था उसी प्रकार धीरे-धीरे जातियों में कुछ दिन ऐसे मुक़र्रर हुए जिनमें बदले की कार्रवाई को बन्द करने का एलान हुआ। इसाई मज़हब को जिन ख़ूँख़्वार जातियों ने ग्रहण किया उनमें बदले का बहुत बोलबाला था। प्वातू [*Poitou*] के शारू [*Charroux*] की कौन्सिल में पहिले-पहल सन् ९८९ में यह प्रचेष्टा हुई कि यह हत्या के बदले में हत्या बन्द हो, किन्तु यह केवल आकाशकुसुम ही रहा। जब १०२७ में टूलूगस [*Tulugues*] में फिर इसाई कांग्रेस हुई, तो उसमें इतना तय हो पाया कि शनिवार के दुपहर से सोमवार तक ये झगड़े बन्द रहें।

गुलाम प्रथा से क़ैद करने की प्रथा का मिलान

कुछ आदिम जातियों में लड़ाई में हारे हुओं को एकदम मार

डालने की प्रथा थी, किन्तु इसके विपरीत कुछ जातियों में ऐसे लोगों को गुलाम बनाकर रक्खा जाता था। इन गुलामों से हर तरीके के बुरे-भले काम लिये जाते थे। उनके शरीर पर भी मालिक को अधिकार होता था। यह प्रथा ऐसी चल पड़ी कि गुलाम बेचना एक पेशा ही हो गया, और गुलाम इकट्ठा करने के लिये तरह-तरह के अपराध किये जाते थे। जो कुछ भी हो, हमें इससे यहाँ मतलब नहीं, हमें केवल यह बताना है कि एक गुलाम ही कैदी का आदिम रूप है, तथा यहीं से अपने वश के व्यक्ति के द्वरा काम कराने का विचार शुरू होता है। मुझे आश्चर्य है कि किसी भी अपराधविज्ञान के विद्वान् को गुलाम के साथ कैदी के सम्बन्ध की बात न सूझी। इस सिलसिले में हमें एक बात और कहनी है, वह यह कि यह जो कई जातियों में लोगों को गुलाम बनानेकी प्रथा थी, तथा कई जातियों में पराजित शत्रु को गुलाम न बनाकर मारडालने की प्रथा थी इसका क्या कारण है। साधारण तौर पर तो एक व्यक्ति यह कह देगा कि इस प्रभेद का कारण यह था कि एक जाति में दयाभाव अधिक था, एक जाति में कम था या नहीं था। किन्तु यह व्याख्या बिल्कुल गलत है। असली बात तो यों है जिन जातियों में उत्पादन पद्धित पिछड़ी हुई थी, वे किसी पकड़े हुए आदमी को जिन्दा रखकर लाभ न उठा सकती थीं बल्कि गुलाम तो उनकी पद्धति पर एक बोझ-सा हो जाता। इस अवस्था में उसको जिवीत रखना व्यर्थ समझा जाता था ; इसमें दया और निष्ठुरता की कोई बात नहीं थी। इसके विपरीत जिनकी उत्पादन-पद्धति आगे बढ़ी हुई तथा उन्नत थी, वे लड़ाई के कैदी को जिन्दा रखकर उससे काम लेना उचित समझते थे। कैदियों को आर्थिक घाटा उठाते हुए जिन्दा रखने की जो प्रथा है, वह आधुनिक है। अवश्य इस आधुनिक-पद्धति के पीछे भी आर्थिक-सामाजिक कारण हैं जिनका वर्णन बाद को किया जायगा।

सज़ा के तीन उद्देश्य

अब तक सज़ा के जिस रूप पर हमने रोशनी डाली है, वह बदला में आ जाता है, किन्तु आधुनिक से आधुनिक ग्रन्थकार ने सज़ा के तीन तरह के सिद्धान्त गिनाये हैं (१) प्रतिशोधात्मक *retributive or retaliatory*

२ नसीहत देनेवाला (*deterrent*)

३ सुधारात्माक (*reformatory*)

सज़ा के सम्बन्ध में जो नसीहत देने का सिद्धान्त है, वह इस धारणा पर अवलम्बित है कि सज़ा से सज़ा पानेवाले को नसीहत होती है, साथ ही साथ जो उसे देखते तथा सुनते हैं उनको भी नसीहत मिलती है, और वे इस प्रकार डरकर अपराध करने से बाज़ आते है। होरेस विन्डहैम ने कहा है † "यदि यह बात होती तो उसका पहिला नतीजा यह होता कि जिसको एकबार सज़ा होती वह फिर कभी उस काम को न करता, साथ ही दूसरे उसकी दुर्दशा को देखकर बाज़ आते हैं; किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में यह बातें नहीं होती हैं, या बहुत ही कम होती हैं इसलिये यह सिद्धान्त कदापि नहीं माना जा सकता। अपराध का क्या नतीजा होगा जानते हुए भी लोग क़ानून तोड़ते हैं, और कभी-कभी तो ऐसा होता है कि सज़ा भुगतने के बाद भी लोग क़ानून तोड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि सज़ा के नसीहतखेज़ होने का सिद्धान्त कुछ लोगों के दिमाग़ का फितूर-मात्र है। सज़ा का उद्देश्य चाहे कुछ भी हो नसीहत करना नहीं है।"

सज़ा से नसीहत होती है या नहीं

इसी लेखक ने उसी पुस्तक में एक दूसरी जगह लिखा है कि इस दावे के विरुद्ध कि अपराधी जेल में सुधरता है या इसमे नसीहत

† *Criminology by Horace Wyndham, p. 21.*

होती है यह बहुत ही उचित तरीके से पूछा जा सकता है कि यदि यही बात है तो इसका क्या कारण है कि कोई जेल में एक बार से अधिक जाता है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि "चूँकि उसे यथेष्ट दिन तक जेल में नहीं रक्खा जाता है", तो यह असन्तोष-जनक है। यह एक प्रकार से कुतर्क (*begging the question*) भी है।

सजा-पद्धति की मौलिक आलोचना

सजा यदि अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती, या कारगर नहीं है, तो इसमें ये कारण हो सकते हैं—(१) यह कि सजा की पद्धति मौलिक रूप से ही ग़लत है, याने सजा देने में एक बदला लेने के अलावा कोई उद्देश्य सफल नहीं होता।

या (२) जो सजायें दी जातीं हैं वे ग़लत हैं

या (३) सजा की पद्धति मौलिक रूप से ठीक होते हुए भीतथा दी जानेवाली सजायें ठीक होने पर भी देखनेवाले या सुननेवाले संभव-अपराधी [*Potential criminal*] को इसकी काफी संभावना जान पड़ती है कि संभव है कि वह अपराध करे और बिल्कुल पकड़ा न जाय या पकड़ा भी जाय तो क़ानूनी दाँवपेचकर छूट जाय। यदि क़ानून बहुत सख़्त हुए, और अपराधी पकड़ा न जा सका, या पकड़ा भी गया तो उसे प्रमाणाभाव के कारण छोड़ देना पड़ा, तो कानून की सख़्ती से क्या फ़ायदा ?

अपराध का श्रेणी आधार होने पर भी कुछ साधारण अपराध

कहना न होगा कि इन्हीं तीनों प्रश्नों पर अपराधविज्ञान, शास्तिविज्ञान (*Penology*) तथा बहुत कुछ हद तक राष्ट्र की सत्ता निर्भर है, क्योंकि जैसा कि कहा जा चुका है राष्ट्र कोई निष्पक्ष न्याय करने की संस्था नहीं, बल्कि एक श्रेणी का हथियार है। इसको बरक़रार रखने की ज़रूरत यह है कि इसके ज़रिये से शासक

श्रेणी के विचार लोगों से मनवाये जायँ, और जो लोग न माने उसको समाप्त कर दिया जाय या उनको कष्ट पहुँचाया जाय। इस सिलसिले में एक बात हम पहिले साफ कर देना चाहते हैं। समाज के श्रेणी-आधार पर वैज्ञानिक रीति से बारबार मौलिक कारणों का हवाला देने के कारण, तथा इस बात पर ज़ोर देने के कारण कि अपराध की धारणा से शासक श्रेणी के कल्याण का सम्बन्ध है, यह बात आँख से ओझल हो गई कि ऐसा होते हुए भी सभी शासक श्रेणियों के कुछ साधारण स्वार्थ (*Common interest*) रहे, जिससे हर ज़माने के अपराधों की धारणा में कुछ साधारण (*Common*) अपराध भी रहे।

साधारण अपराध नाम के लिये—क़ानूनी अपराध

इन अपराधों में हत्या, डकैती, चोरी, बलात्कार आदि समझे गये हैं, किन्तु याद रहे कानूनी हत्या, क़ानूनी डकैती यहाँ तक कि क़ानूनी बलात्कार भी हर शासक श्रेणी की सुविधा के अनुसार हर ज़माने में रहा है। हत्या *Per se* इस समय भी अपराध नहीं है। हिटलर के जवानों ने कई बार हत्यायें कीं, किन्तु ऐसे हत्यारे क़ानूनन दोषी नहीं समझे गये। राईखस्टाग (*Reichstag*) के सब क़ानून उस समय धरे ही रह गये क्योंकि यह हत्यायें राष्ट्र याने शासक श्रेणी के हक़ में की गई थीं। राष्ट्र आमतौर पर अपने दुश्मनों को हत्या करने की इजाज़त इस कारण नहीं देता कि वह ऐसा बिना किये ही अपना काम चला सकती है। वह बाक़ायदा उस व्यक्ति का मुक़द्दमा चला कर उसे फाँसी आदि दे सकता है। हिटलर ने ऐसा करने के बजाय उनकी हत्या करवा डाली, इससे साबित होता है कि उसका राष्ट्र भीतर से कमज़ोर था, और उनपर मुक़द्दमा चलाने का खटराग नहीं बर्दाश्त कर सकता था। केवल हिटलर ही नहीं सभी राष्ट्रों में ज़रूरत के समय मार्शल ला (*Martial law*) का

तथा चटपट मुक़द्दमा [*Summary trial*] का विधान है, यह भी इसी ज़रूरत [*Emergeney*] के समय काम में आने के लिये। फिर मार्शल ला के अनुसार कोई भी सामरिक अफसर किसी भी मकान को खाली करवा सकता है, किसी भी चीज़ को ज़ब्त कर सकता है, या इस्तेमाल कर सकता है। यह डकैती से विभिन्न प्रकार का नहीं है, अवश्य इसके लिये करनेवाला यह कह सकता है, अर्थात् कहता है कि यह सब समाज की भलाई के लिये ही है। सबसे अधिक ताज्जुब पाठक को इस बात पर होगा कि मैंने क़ानूनी बलात्कार की बात कही है, किन्तु यह कोई अत्युक्ति नहीं। दास प्रथा के ज़माने में मालिक को क़ानूनी हक़ था कि वह दासी पर बलात्कार तथा जो चाहे सो करे। अत्यन्त आधुनिक क़ानून के अनुसार भी अपनी स्त्री पर बलात्कार करने की क़ानून सुनाई नहीं करता। इंडियन पेनल कोड के ३७५ दफ़ा में बलात्कार की परिभाषा देते हुए, उसका *Exception* यों ब्यान किया गया है।

Exception—Sexual intercourse by a man with his own wife, the wife not being under twelve years of age, is not rape याने यदि एक व्यक्ति अपनी स्त्री पर बलात्कार करे, और वह स्त्री बारह वर्ष से कम की न हो तो वह बलात्कार न समझा जायगा मैंने जिस *I.P.C.* के संस्करण से उद्धृत किया है, उसके बाद सम्मति की उम्र में परिवर्तन हो चुका है। ३७५ दफ़ा हमें आज कितना भी उचित जान पड़े, शायद इसके समर्थन के लिये यह *Physiological* याने शरीरविज्ञानसम्बन्धी कारण बताया जाय कि स्त्री के साथ प्रत्येक मैथुन ही बलात्कार है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह पुरुष-प्रधान समाज का क़ानून है जिसमें विवाहित स्त्री केवल विवाहित दासीमात्र है। जब भविष्य में पुरुष और स्त्री की सम्पूर्ण समानता स्थापित हो जायगी, उस समय के लोग ऐसे क़ानून को पढ़कर सिहर उठेंगे इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार हम और भी

उदाहरण दिखला सकते हैं जिसमें यह दिखलाया जा सकता है कि *Isonomia* याने क़ानून के सामने बराबरी का आदर्श हमारे श्रेणी शासित राष्ट्रों से कहीं दूर है, यद्यपि बराबर डींग उसी की है।

क़ानून में शासक श्रेणी के साथ पक्षपात

राष्ट्र पर प्रभाव रखनेवाले लोगों के लिये या राष्ट्र की शासक श्रेणी के लिये यह ज़रूरी नहीं है कि क़ानून में उनके लिये विशेष व्यवस्था हो। क़ानूनन पूरा पक्षपातहीन होते हुए भी, तथा उसकी आँखों में सब बराबर करार दिये जाने पर भी प्रभावशाली तथा धनी लोग और तरीके से उससे बचत कर लेते हैं। अठारहवीं शताब्दी में इटली में बेक्कारिआ (*Beccaria*) ने इंगलैंड में, बेन्थाम ने इंगलैंड में तथा जर्मनी में फायेरबाख़ (*Feuerbach*) ने इस दुष्ट प्रभाव के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी। हम बाद को इन विद्वानों के मतों पर विस्तृत विचार करेंगे किन्तु यहाँ पर केवल इतना बता दें कि इन लोगों को क़ानून में की गई बड़े लोगों के साथ रिआयतों के विरुद्ध आवाज़ उठानी पड़ी। बैक्कारिआ की पुस्तक 'अपराध और सज़ा' १७६४ में प्रकाशित हुई थी, उसमें उन्होंने जिन बातों के विरुद्ध आवाज उठाई उनमें इन बातों पर खास ज़ोर दिया गया था —

(१) सज़ा के मामले में ग़रीब तथा असहाय के साथ ज़ुल्म और अमीर के साथ रिआयत बन्द हो।

(२) जज का अपने दोस्तों के हक़ में बिल्कुल दयामय होना, और दुश्मनों तथा अपरिचितों को सख्त सज़ा देना बन्द हो।

(३) क्षमा करने की शक्ति का दुरुपयोग न किया जाय।

क्रान्तिकारी फ्रान्स की चेष्टा कि क़ानून में सब बराबर हों

क्रान्तिकारी फ्रान्स ने ही १७६१ में सबसे पहले इस सिद्धान्त को स्थापित करने की चेष्टा की कि एक अपराध के लिये एक ही

सज़ा हो। पहिले के क़ानूनों में किसी अपराध के लिये सज़ा की मीयाद नहीं बाँधी गई थी, बल्कि जज ही पर यह छोड़ा गया था कि वह सज़ा की मीयाद तथा उसके सम्बन्ध की अन्य बातें तय करे। क्रान्तिकारी सरकार ने ऐसा क़ानून बनाया जिसमें एक क़ानून के लिये एक ही सज़ा रक्खी गई, तथा यह तय हुआ कि क़ानून के बनानेवाले जज नहीं, बल्कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हों, जज का काम इसके अनुसार केवल इतना रह गया कि अपराध का निर्णय करे, और सज़ा दे दे। क्रान्तिकारी फ़्रान्स को जजों की सच्चाई पर ज़रा भी विश्वास नहीं रह गया था। इसलिये क्रान्ति के बाद क़ानून ऐसा बनाया गया कि जिसमें जज के ऊपर अपराध का निर्णय करने के अतिरिक्त कुछ नहीं छोड़ा गया था, एक अपराध के लिये एक सज़ा तो निश्चित थी ही। उसमें किसी भी कारण से कुछ रद्दोबदल नहीं हो सकता था। अपराध चाहे कितना भी घृणित तरीक़े से किया गया हो सज़ा बढ़ नहीं सकती थी, और अपराध करते समय अपराधी की परिस्थिति के संगीनपन *Extenuating circumstances* को देखते हुए सज़ा में कोई कमी भी नहीं हो सकती थी। †

कोद नापलेयँ [*Code Napoleon*] में प्रतिक्रिया

इस समय मुझे यह नहीं देखना है कि क्रान्तिकारी फ़्रान्स का यह जो तरीक़ा था यह ठीक था या नहीं। सन्देह नहीं इसके पीछे जो विचार था, वह यह था कि क़ानून के निकट सब मनुष्य बराबर हों। हमें केवल यह बतला देना है कि क्रान्ति को नेपोलियन द्वारा नष्ट किये जाने के बाद १८१० में जो कोद नापलेयँ [*Code Napoleon*] बना उसमें एक अपराध के लिये एक सज़ा का तरीक़ा रद्द कर दिया गया। इसके द्वारा प्रत्येक अपराध की परिभाषा कर दी गई,

† *Criminology and Penology by Dr. Gillin.*

और प्रत्येक अपराध के लिये एक कम से कम तथा अधिक से अधिक सज़ा दे दी गई। बाकी सब जज पर छोड़ा गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि १७६१ के क्रान्तिकारी फ्रान्स के कानून की पुस्तक की तुलना में १८१० का कानून, कानून के सामने बराबरी की दृष्टि से पीछे की ओर गया। इस परिवर्तन को समझने के लिये एक बात स्मरण रखना ज़रूरी है कि फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की बुदौलत फ्रान्स की सामन्त श्रेणी [*Feudal class*] के हाथ से राज्य की ताकत फ्रान्स की बुर्जोया श्रेणी के हाथों में आई। जब वह पहिले पहल ताकत में आई तो उसने *Liberte*, *egalite*, *fraternite*, याने साम्य, मैत्री, स्वधीनता का नारा दिया, क्योंकि वे सामन्त श्रेणी के साथ बराबरी का दर्जा पाना चाहते थे, किन्तु ज्यों ही वे इसमें सफल हुए, उन्होंने बराबरी के नारे को महज़ एक नारा रक्खा। वे नहीं चाहते थे कि प्रोलेटेरियटों या मज़दूरों के साथ बराबर हो जायँ। उसी इच्छा को हम नेपोलियन के उत्थान में प्रतिफलित पाते हैं। जब राजनैतिक क्षेत्र में इस प्रकार प्रतिक्रिया की लहरसी बही, तो इसमें आश्चर्य क्या कि कानून में इस आम बात की परछाईं पड़ी। इस प्रतिक्रिया को सफलता पूर्वक यह कह कर छिपाया गया कि अपराधी की मानसिक अवस्था, उम्र तथा परिस्थिति को ख़्याल में रखकर सज़ा सब को एक न होनी चाहिये अस्तु।

सज़ा-पद्धति पर और विचार

ऊपर की बातों से यह न समझा जाय कि मैं यह चाहता हूँ कि एक अपराध के लिये कानून में एक ही सज़ा हो। इस पचड़े को सुलझाने के पहले हमें उन तीन बातों पर मत प्रकट करना है जिसमें से पहिली बात यह कि सज़ा की पद्धति मौलिक रूप से ग़लत है कि नहीं। इस सम्बन्ध में हम यह बतला चुके कि आदिम समाज से लेकर कैन्ट के जैसा महाविद्वान् तक सज़ा को एक ज़रूरी चीज़,

यहाँ तक कि *Categorical Imperative* समझते हैं। कुछ और बुजुर्गों की राय लीजिये। अफलातून कहता है "यदि कोई अपराधी को बुद्धिमत्ता के साथ सजा देता है, और उस सजा देने के दौरान में कोई पाशविकता नहीं करता, तो वह कोई सजा नहीं दे रहा है, बल्कि वह न्याय कर रहा है, ऐसी सजा देने का रुख भूतकाल की ओर नहीं है। क्योंकि जो हो गया है सो तो हो ही गया है, वह लौट नहीं सकता, सजा देने का उद्देश्य केवल आनेवाले अपराध को रोकना है।" [१] हाबस ने कहा है "सजा देने का उद्देश्य बदला लेना नहीं, बल्कि आतंक है।" [२] और वे इस बात को साफ कर देते हैं कि उनके मत में समाज के कल्याण में ही सजा का एकमात्र समर्थन है। +++ वेकारियां के मत में [३] "सजा का उद्देश्य अपराधी को आगे और अपराध न करने देना तथा दूसरों को अपराध से रोकना है।" [४] अरस्तू ने भी अपने जमाने में प्रचलित जो सजा की धारणायें थीं उनको बौद्धिक आधार पर स्थापित करने की चेष्टा की।

सज़ा से सुधार की अनिवार्यता का सिद्धान्त

कैन्ट तो समझते हैं कि सजा में ही सुधार के तत्व निहित हैं, उनका कहना है कि एक अनैतिक कार्य किये जाने के कारण समाज का भारसाम्य [*Equilibrium*] नष्ट हो गया, इस नष्ट किये हुए भारसाम्य को सजा देकर ठीक कर देना चाहिये। मैं और ऐसे लोगों के मतों को पाठक के सन्मुख पेश करने की जरूरत नहीं समझता

(1) *Protagoras*
(2) *Leviathbathan C. 28*
(3) *Traite des delits et peines, C. 12*
(4) *As quoted in Prisons by Dr. Smith.*

क्योंकि उनकी सब की भाषा में कुछ प्रभेद होते हुए भी वे सब इसी बात को कहते हैं। केन्ट, अरस्तू, बेकारियाँ, बेन्थाम, फायेर बाख़, गारोफालो, फेरि तथा अन्य सभी लेखक सज़ा को ज़रूरी समझते हैं। हाँ कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें अराजकवादी कहेंगे वे सज़ा नहीं चाहते, सारांश यह है कि कोई भी कितना ही अद्‌भुत विचारवाला हो वह मानता है कि एक व्यक्ति जो अपराध करता फिरता है, जिससे लोगों की जान तथा माल का ख़तरा है, उसे अलग कहीं रखने की ज़रूरत है। इस मकान या संस्था में जिसमें वह रक्खा जायगा, उसको जेल न कहकर यदि सुधार-घर [*correction house*] या अस्पताल कह दिया तो इससे इस बात में कोई फ़रक़ नहीं आता कि उस व्यक्ति को वह स्वधीनता नहीं है जो उस सुधार-घर या अस्पताल के बाहर के रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अनायास प्राप्त है। इस दृष्टि से इतना तो सर्वमान्य मालूम होता है कि उस असामाजिक व्यक्ति के साथ कुछ करना चाहिये, उसे सबकी तरह नहीं रखना चाहिये। अब क्या करना चाहिये यही सवाल उठता है, और उसपर फिर मतभेद है। हम पहिले सज़ा के सन्बन्ध में अपना मत दे दें फिर आगे बढ़ेंगे।

लेखक का मत

करीब बीस साल तक मैं भारतवर्ष की विभिन्न जेलों में रह चुका हूँ। मैं सब तरह के कैदियों में उन्हीं का एक व्यक्ति होकर रहा इसलिये सज़ा के सम्बन्ध में क़ैदी क्या सोचते हैं, तथा धीरे-धीरे उनपर क्या असर होता है यह जानने का अवसर मुझे मिला। याद रहे मैं जो कुछ यहाँ कहूँगा वह जेल-पद्धति के विषय में नहीं, बल्कि सज़ा के सन्बन्ध में अर्थात उसमें जो स्वाधीनता-ह्रास [*loss of liberty*] का पहलू है उसी पर कहूँगा। मेरा ख़्याल है अपराध के साथ सज़ा की धारणा मिले रहने से अपराधों के प्रादुर्भाव में कमी ही

होती है। जेल में आराम नहीं होना चाहिये इस विषय पर बहुत कुछ बेवकूफ़ी की बात कही गई है, किन्तु मैं समझता हूँ जेल में मामूली सब आराम हो जाने पर भी केवल स्वाधीनता-ह्रास में ही बड़ी भारी सज़ा है। मैं समझता हूँ असामाजिक व्यक्ति को एक हद तक सज़ा देने में भलाई ही होगी। मैंने सैकड़ों कैदियों को देखा है कि वे दिल से तोबा करते हैं कि अब वे अपराध न करेंगे। अबभी मैं इस पुस्तक को लिखते समय रोज़ प्रताबगढ़ जेल में देख रहा हूँ कि बहुत से क़ैदी यह कह रहें हैं कि अब वे शराब नहीं बनायेंगे इत्यादि, यहाँ तक कि कोई अगर शराब बनाने की या अन्य प्रकार से क़ानून तोड़ने की सलाह देगा तो वह उसे पकड़ा देगा इत्यादि। कहा जा सकता है कि जेलके शिकंजेमें कसे जानेके कारण यह उनका क्षणिक उद्गार है संभव है परिस्थितियों की थपेड़में वे फिर वैसा ही आचरण करें जैसा उन्होंने पहिले किया था। मैं ऐसा नहीं समझता हूँ। अवश्य ऐसे भी लोग हैं जो इसके विपरीत सोचते हैं, किन्तु उनके इस सोचने के पीछे यह ख्याल है कि चाहे कुछ भी हो, याने वे चाहे किसी प्रकार भी रहें इलाके में या थाने के अन्दर कोई वारदात हुई कि वे पकड़े जायेंगे। कुछ लोग इस कारण से भी अपराध फिर करेंगे कि वे समझते हैं कि इसवार वे ग़लती के कारण पकड़े गये थे आईन्दा दफ़ा वे अपराध इस प्रकार करेंगे कि वह ग़लती न हो।

सज़ा का *conditioned reflex* सिद्धान्त

डाक्टार स्थिम ने लिखा है कि अपराध के साथ सज़ा सलग्न होते-होते व्यक्ति के मनमें एक *conditioned reflex* सा पैदा हो जायगा। इस स्थान पर *conditioned reflex* क्या है इसको ज़रा समझा देना चाहिये। मान लीजिये एक कुत्ते को बचपन से ऐसा सिखलाया जाय कि एक तरफ घन्टी बजी और दूसरी तरफ उसके सामने तुरन्त खाना आया, कुछ समय तक ऐसा करने पर

देखा जायगा कि घन्टी बजाई गई, और खाना नहीं भी आया तो भी कुत्ते की जीभ से लार टपकने लगेगी। ऐसे ही यदि अपराधी को ज्ञात हो जाय कि अपराध के करते ही एक तरह से यन्त्र की तरह (*Automatically*) उसे सज़ा मिलेगी, किसी भी हालत में वह बच न सकेगा, तो मैं समझता हूँ कोई भी सही दिमाग़ व्यक्ति अपराध नहीं करेगा। यदि एकबार वह सज़ा पाने से बच भी जाय तो भी उसका विवेक इसे गवारा न करेगा और उसको उतना ही कष्ट होगा जितना सज़ा मिलने से होता है। अवश्य बारबार कह चुका हूँ, और फिर कहता हूँ कि मौलिक कारणों को बिना हटाये केवल *conditioned reflex* पैदा हो जाने से कुछ मतलब हल न होगा। आख़िर सभी राष्ट्रों में सख्ती होते हुए भी उनके विरुद्ध क्रान्तियाँ हुई ही हैं, एक समय ऐसा आ जाता है कि लोग सब कुछ सहने तथा करने के लिये तैयार हो जाते हैं। फिर मनोविज्ञान में, और एक आदमी की सारी परिस्थितियों में प्रभेद है। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ठ करता हूँ। बच्चा आग में हाथ नहीं डालता, क्योंकि भूतकाल में जितने वार भी उसने उसमें हाथ डाला है, उसका हाथ जल गया है, किन्तु यहाँ आग और बच्चा दो चीज़ें हैं। बच्चे का कितना भी प्यारा खिलौना आग में गिर जाय इससे आग को कोई फिक्र नहीं है, वह जलाये ही जायेगी, किन्तु समाज में यह बात नहीं। संभव है पुलिस श्रेणी तथा चोर श्रेणीका स्वार्थ एक विशेष परिस्थिति में एकही हो, और पुलिस पकड़ना छोड़ दे। इसलिये हम सज़ा के सन्बन्ध में जब जो कुछ भी जहाँ लिखे, उसमें यह समझा जाय कि मौलिक कारणों को दूर करने की शर्त सबसे से पहिले है।

सज़ा की अनिवार्यता ज़रूरी

तो ऊपर के विश्लेषण से पता लग गया कि सज़ के होने से ही काम न चलेगा, बल्कि समाज पुलिस तथा अदालत की

अच्छी पद्धति होनी चाहिये कि अपराधी को विश्वास हो जाय कि उसे अवश्य सज़ा मिलेगी। इस बात को दृष्टि में रखकर पुलिस तथा अदालत में सुधार भी हमारे दायरे में आ जाता है। डाक्टर स्मिथ ने ठीक ही कहा है †

Much endeavour has been wasted in the past by futile attempts to tinker with the prison system, while leaving the general penal system untouched याने 'केवल जेल पद्धति पर टीमटाम करने के कारण और सज़ा देने के और तमाम यन्त्र पर बिल्कुल ध्यान न देने के कारण सुधार की बहुत सी चेष्टायें व्यर्थ चली गईं।' मैंने दस ग्यारह-वर्ष पहिले यू० पी० की एक जेल कमेटी के सामने एक अत्यन्त दीर्घ बयान पेश करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया था कि पुलिस तथा अदालत में मौलिक सुधारों की ज़रूरत है।

पुलिस और अदालत का सुधार आवश्क

पुलिस और अदालत के सम्बन्ध में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उक्त बयान में मैंने यह कहा था कि मोटे तौर पर जेल में आनेवाले याने आकर सज़ा भुगतनेवाले २५ फी सदी कैदी निरपराध हैं। निरपराध शब्द से मेरा मतलब यहाँ दो तरह के लोगों से था —

[१] वे जिन्होंने उस अपराध को कभी नहीं किया जिसमें उन्हें सज़ा मिली है। मान लीजिये क को प्रतापगढ़ की डकैती में सज़ा हुई, किन्तु उसने प्रतापगढ़ में क्या कहीं भी कभी कोई डकैती नहीं डाली तो वह इस अर्थ में निर्दोष है।

(२) वे जिन्होंने लगाये हुए विशेष *Particular* अपराध को

† *Prisons p. 6*

नहीं किया मान लीजिये ख पर प्रतापगढ़ की डकैती लगाई गई, और उसीमें उसको सज़ा हुई, किन्तु वह प्रातापगढ़ की डकैती में नहीं था, हाँ उसने एक साल पहले सुलानपुर में एक डकैती डाली थी, तो वह इस अर्थ में निरपराध है।

इस प्रकार क और ख दोनों श्रेणी के निरपराधों को लेकर मैंने २५ फ़ी सदी का तख़मीना लगाया है। जेल में आकर क़ैदी विशेष कर जब कि उनकी अपील ख़तम हो जाती है, और सज़ा का एक हिस्सा कट जाता है, उस समय वह दिल खोलकर अपने अपराध बताता है। जहाँतक मैं समझता हूँ तथा जहाँतक मैंने जाना है उनमें अपने अपराध को बढ़ाकर कहने की ही प्रवृत्ति है, घटाकर नहीं। मेरे तख़मीने को चाहे ग़लत बताया जाय किन्तु भारतीय जेलों के साथ सम्बन्ध रखने वाला कोई भी यह बताने में दरेग़ु न करेगा कि क और ख दोनों श्रेणी के निरपराध जेलों में भरे पड़े हैं। कहना नहीं होगा इसका सारा दोष समाज, पुलिस तथा अदालत का है। यह बड़ा टेढ़ा काम है कि निर्णय किया जाय कि इनमें से किस का कितना दोष है, फिर दोष केवल इतना ही नहीं है। वास्तविक दोष तो यह है कि असली अपराधियों में से कितनों को ये सज़ा दिलाते हैं।

पुलिस और अदालत की पद्धति में ग़लती

हम पुलिस तथा अदालत पर अधिक लिखने की गुंजाइश नहीं पाते। फिर भी दो एक मोटी-मोटी बात बता देना ज़रूरी है। कुछ हद तक भारतीय सरकार के कानून ही ऐसे हैं कि कोई पुलिस का थानेदार सच्चा हो तो उसका गुज़ारा नहीं हो सकता। मान लीजिये क सरनामगंज थाने का थानेदार होकर आता है, यदि उसके आने के पहिले प्रत्येक साल में उस इलाके में ३८७ वारदातें होती थीं, और इसी सिलसिले में ३०० व्यक्तियों का चालान होता

था, किन्तु अब की साल केवल ३२ वारदात वाक़ई होती है और वह ३० आदमी का सही-सही चालान करता है तो वह ग़ाफ़िल समझा जायगा, इसी प्रकार यदि ६०० वारदातें हों और सच-सच ७०० आदमी का चालान करे तो उसको नालायक़ बताया जायगा, नतीजा यह है कि वह पीटपाटकर औसत से कुछ कम वारदात तथा चालान दिखलाता है। यदि एक दारोग़ा के इलाके में ५ क़तल हों, और केवल एक ही के सिलसिले में वह मुलज़िमों का चालान कर पावे तो भी वह नालायक़ समझा जायगा। इसी प्रकार सब अपराधों की बात है। नतीजा यह है कि वह झूठे गवाह भी बनाता है, और झूठी शनाख्तें भी कराता है। फिर घूस लेनेदेने के मारे जो कुछ होता है वह तो होता ही है। बात यह है एक दारोग़ा अपने थाने का बादशाह होता है, उसपर देखरेख ढंग की नहीं होती। जैसी होती है वह पहिले बताया गया, उससे और अन्याय बढ़ता है। कांग्रेस सरकार ने जो *Anti-corruption department* खोला था उससे ये बातें बहुत कुछ सामने आईं, किन्तु जो कुछ सामने आईं, वह असल में वास्तविकता *reality* का बहुत छोटा अंश है। केवल पुलिस वाले ही नहीं, क़तल, डकैती, फौजदारी, बलात्कार आदि की डाक्टरी रिपोर्ट देते हुए सिविल सर्जन तक घूस खाकर झूठी रिपोर्ट देते हैं। इस समय भी एक जज पर घूसखोरी का मुक़दमा चल रहा है। इस विषय पर इस पुस्तक में अधिक लिखाना उचित न होगा, केवल इतना स्मरण दिलाकर कि पुलिस, अदालत के सुधार तथा अधिक योग्य *efficient* बनाये बग़ैर अपराध के विरुद्ध हमारा युद्ध ज़ोर नहीं पकड़ सकता, हम आगे बढ़ जायेंगे।

गवाह क्यों झूठ बोलते हैं

इस सिलसिले में केवल एक बात और। १६४० में इलाहाबाद हाइकोर्ट के दो माननीय जजों ने यह राय दी थी कि हिन्दुस्तानी गवाह

प्राय: झूठे होते हैं इस पर देश में बड़ा तहलका मच गया था, किन्तु ठंडे दिमाग़ से देखा जाय तो यह जनता पर उतना बड़ा दोषारोपण नहीं है जितना कि पुलिस पर। आख़िर कुछ दीवानी के मुक़द्दमों को छोड़कर गवाहों को अदालत के सामने पेश करनेवाले कौन हैं? यही पुलिस न? फिर जनता के प्रतिनिधि होकर कोई गवाह गवाही देने नहीं आते, वे पुलिस की सीख पर ही आते हैं। पुलिस ऐसे लोगों को गवाह बनाकर लाती ही है जो उनके कहने पर या और किसी मतलब से झूठ बोलने को तैयार होते हैं, तो? माननीय जजों ने जो कुछ कहा वह सोलहों आने सच भी मान लिया जाय, तो भी इसमें दोष लानेवाले का है। हाँ यह यदि कहा जाय कि पुलिस चाहे जिनको भी लाती वे उतने ही झूठे होते, तब तो यह कहना पड़ेगा कि ऐसे देश में न्याय तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि जज खुद तो देखने नहीं जाते, जो कुछ गवाह आकर उनके सामने कहते हैं उसी से अपना नीचोड़ निकालने के लिये वे बाध्य हैं। गवाही सच्ची हुए बग़ैर न्याय नहीं हो सकता। हम इस प्रकार एक बार सामाजिक आर्थिक-मौलिक प्रश्नों पर पहुँच जाते हैं, जिनके सुलझे बग़ैर निर्भीक गवाह नहीं मिल सकते।

हमने मौलिक रूप से यह मान लिया कि सज़ा उपयोगी है। अब रह गया यह कि कौन-सी सज़ा होनी चाहिये, कौन-सी नहीं, कौन सज़ा कितनी उपयोगी है। इस प्रश्न पर रोशनी डालने के पहिले फिर एकवार बता दें कि सज़ा को हम किस माने में उपयोगी मानते हैं। सज़ा की हम पहिले परिभाषा कर चुके कि यदि एक व्यक्ति पर आम आदमियों पर से अधिक रोक समाज या राष्ट्र की ओर से लगाई जायतो वह सज़ा ही है। यह सभी क्षेत्रों में क़ानूनन ठीक नहीं है। जेल का भी तीन ऐसे प्रकार से उपयोग हो सकता है जो क़ानूनन सज़ा नहीं कही जा सकती।

सज़ा के अलावा भी जेल के अन्य उपयोग

हम डाक्टर हैम्बलीन की पुस्तक *Prisons* से इसका उद्धरण लेते हैं

(१) "जेलों का प्रायः उपयोग भेजे गये व्यक्तियों की मानसिक परीक्षा के लिये किया जाता है"

(२) "जेलों का कभी-कभी उपयोग डाक्टरी इलाज के लिये किया गया है, जैसे एक मेट्रोपोलिटन मैजिस्ट्रेट ने अभी हाल ही में एक व्यक्ति के यहां से भयंकर नशे की चीजों की बरामदगी के कारण यह हुक्म दिया था कि उसे एक साल तक जेल में रक्खा जाय, जिससे उसका इलाज किया जा सके। इस हुक्म को सुनाते हुए मैजिस्ट्रेट ने कहा था कि यह हुक्म वे सज़ा देने के विचार से नहीं दे रहे हैं, बल्कि उनका उद्देश्य केवल यह है कि उस व्यक्ति का ज़रूरी इलाज हो जाय। इस रूख का समर्थन कठिन है, क्योंकि मैजिस्ट्रेट चाहते हों या न चाहते हों सज़ा अवश्य दी गई। डाक्टरी इलाज और सज़ा का विचार एक हो जाने में हमें सख्त आपत्ति है, अवश्य ही रोगी इस हालत में इलाज को सज़ा के रूप में देखने के लिये वाध्य है"

(३) "जेलों में ऐसे लोग भी रक्खे जाते हैं जिनकी असली सज़ा तो कुछ और है, किन्तु उस सज़ा के न मिलने तक वे जेलों में बन्द रहते हैं जैसे फाँसीवाले।"† डा० स्मिथ भूल गये फाँसी के अलावा बेंत की सज़ावाले भी जेल में रहते हैं जब तक कि उन्हे बेंत न लग जायँ।

(४) इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति जब हवालात में रहता है तो भी वह जेल में रहता है, किन्तु जेल उसकी सज़ा नहीं हैं।

† *Prisons by Dr. Hamblin Smith M. A. M., D.*

जेल में रहना ही सज़ा है

इस प्रकार जेलोंके चार इस्तेमाल ऐसे हुए जो कानूनन सज़ा नहीं हैं,किन्तु व्यवहारिक रूपसे ये सज़ा हैं ही। उस व्यक्तिकी स्वाधीनता गई, रोजगार गया, घरवालों से मिलना गया इत्यादि, इसलिये इस प्रकार जेलमें रखने का वहुत सोच समझकर उपयोग करना चाहिये जो सच्चे या बने हुए पागल मारपीट करने वाले हैं(*Violent*)इनको तो ह़िरासत में रखकर ही आगे जाँच करनी पड़ेगी। डाक्टर स्मिथ ने जो लिखा है कि किसी को इलाज के लिये जेल में भेजा जाता है, सो एक रन्डियों के अलावा मैं समझता हूँ किसी को भारत में भेजा नहीं जाता, किन्तु वह भी उस हालत में जब वे इलाज कराने से इनकार करें और फिर भी पेशा करें तो सज़ा के तौर पर। पुलिस को ऐसा करने का अधिकार भारतवर्ष के कुछ ही स्थानों में एक छोटी हद तक है। जो कुछ भी हो भविष्य का समाज अवश्य ही इलाज के लिये ज़बरदस्ती का उपयोग करेगा। गर्मी,सूज़ाक, कोढ़, तपेदिक इत्यादि रोगों का इलाज ज़बरदस्ती करना राष्ट्र का कर्त्तव्य है, और यदि रोगी इलाज के बाहर है तो उन्हें समाज से बाहर करना ज़रूरी है। इस समय भारतवर्ष की गलियों में सैकड़ों ऐसे लोग स्वतंत्ररूप से घूम रहे हैं, जो इन रोगों से पीड़ित हैं। इनको केवल दिन में दो बार दवा पिलवाकर ही राष्ट्र का इतिकर्त्तव्य समाप्त न होगा बल्कि इनमें से जिनको अलग करना ज़रूरी है उन्हें समाज से अलग करना चाहिये। यह मेरी समझ में नहीं आता कि डा० स्मिथ को यह अजीब क्यों जान पड़ता है जब कि वे स्वयं डाक्टर हैं। भविष्य का समाज अवश्य ही भयंकर रोगियों को आज़ाद तरीक़े से घूमने नहीं देगा। जब भयंकर अपराधी स्वतंत्र-रूप से घूम नहीं सकता, तो भयंकर रोगी क्यो आज़ाद छोड़ा जायगा जबकि उसके इलाज के लिये उसे अलग रखना ज़रूरी है।

जेल में केवल कैदी ही रहें, फाँसी जेल में न हो

डा० स्मिथ समझते हैं कि फाँसीवालों को मामूली जेलों में न रखा जाये' न उनको फाँसी ही ऐसे जेल में जिसमें कैदी रहते हैं,दी जानी चहिये। मैं इसको बिल्कुल ठीक समझता हूँ। किसी भी हालत में फाँसीवाले न तो मामूली कैदियों की जेल में रक्खे जायँ, न उनको ऐसे जेलोंमें फाँसी ही दी जाय। जेलके अन्दर फाँसी देनेसे कुछ कैदियों में समभव है अधिक रोब बैठे, किन्तु याद रहे यह उनकी मनुष्यताके दाम पर ही होगा। सुधारका वातावरण पैदा करनेके लिये कैदी और अफ़सर में जो सद्भाव का होना ज़रूरी है, वह ऐसी घटना से बिल-कुल नष्ट हो जाती है। बेंत के लिये भी मेरी यह राय है कि वह मा-मूली जेलों में न लगाया जाय। हाँ जेल के अन्दर कोई भीषण अप-राधके लिये जो बेंतकी सज़ा दी जाय, उसकी दूसरी बात है। वह तो जेल के अन्दर लगाया ही जाना चाहिये

मुक़द्मे का फैसला जल्दी हो

हवालात में व्यक्ति को कम से कम समय तक रखना चाहिये मैंने देखा है कि लोग छै तथा आठ महीने तक मुकद्मा बिना चलाये ही जेल में रक्खे जाते हैं। अभी हाल में मैंने देखा कि एक लड़का साइकल चोरी में हवालात में था, वह चार महीने हवालात में रहा, और बाद को उसे सज़ा तीन महने की हुई। कहना नहीं होगा कि यह अदालत तथा पुलीस दोनों के लिये बड़ी लज्जा की बात है अवश्य कायदे के तौर पर तो यह है जिस व्यक्तिके ऊपर मुकद्मा बिना चले हवालात में एक महीना हो जाय, उसके मामले की रिपोर्ट जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट मैजिष्ट्रेट को करे, ऐसा किया भी जाता है, किन्तु ज्ञात होता है मैजिष्ट्रेट के मेज़ से वह सीधा कतवार की टोकरी में जाता है।

अधिक से अधिक लोग मुक़द्दमे के फ़ैसले से पहिले ज़मानत पर रहें।

अव्वल तो हवालात में बन्द केवल उन्हीं मामलों में लोगों को रखना उचित होगा जो यदि बाहर रहेंगे तो सज़ा के डर से भाग जायेंगे, या जिनसे यह डर हो कि वे बाहर रहने पर अपराध फिर करेंगे या शहादत में गड़बड़ पैदा करेंगे। मैं समझता हूँ अधिक से अधिक लोगों को ज़ाती मुचलका तथा ज़मानत पर (हमेशा रुपये की ही नहीं) छोड़ा जाय।

हवालात का समय भी क़ैद ही में गिना जाय

मैंने एक जेल कमेटी के सामने गवाही देते हुए १९२९-३० में यह कहा था कि कोई व्यक्ति हवालात में जितना समय बितावे, सज़ा पड़ने के बाद उतना समय उसकी कैद में से घटा दिया जाय। यह एक बहुत ही उचित सिफ़ारिश है, इटली तथा फ्रान्स में ऐसा होता भी है, किन्तु भारत चूँकि ब्रिटिश पद्धति के अन्तर्गत है, इसलिये यहाँ यह रिवाज है कि हवालात का समय सज़ा में नहीं गिना जाता। सन्देह नहीं कि यह एक बेवकूफ़ी की लकीर की फक़ीरी है। एक व्यक्ति छै महीने तक हवालात में रहनेके बाद निर्दोष क़रार दिया जाता है, किन्तु छूटकर देखता है कि उसके कारोबार का नाश हो चुका। यह परिस्थिति कहाँ तक उचित कही जा सकती है ? इसलिये मेरी राय में अव्वल तो अभियुक्त मुकद्दमे के फैसले तक जमानत पर बाहर रहे, फिर यदि उसको किसी कारण से हवालात में रखना ही उचित समझा जाय तो वह समय जो वह हवालात में घटावे उसकी कैद में से घटा दिया जाय।

सज़ा हो न हो, रोक के सम्बन्ध में सब एकमत

अपराध के लिये सज़ा कुछ न कुछ मिलनी चाहिये इस बात के सम्बन्ध में क़रीब-क़रीब सब विद्वान एकमत होने पर भी कुछ

लोग ऐसे ज़रूर हैं जो मौलिक रूप से सज़ा के विरोधी हैं किन्तु ऐसे लोग भी निम्नलिखित बातों को मानते हैं, अर्थात् उनको भी मानना पड़ता है कि —

(१) कुछ ऐसा किया जाय कि अपराधी किसी भी हालत में और अपराध न कर सके।

(२) उसको यह समझने के लिये बाध्य किया जाय कि अपराध करने से उसको नुकसान है।

(३) कम से कम तबतक उस पर रोक रक्खी जायजब तक कि यह इतमीनान न हो जाय कि वह सुधर गया।

क़ैद की अनिवार्यता

यदि उपरोक्त तीन बातों पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि वर्त्तमान समाज-पद्धति में क़ैद के ही द्वारा ये सब उद्देश्य पूरे हो सकते हैं। क़ैद की बात तो यों तय हो गई, अब फाँसी, बेंत होना चाहिये या नहीं यह एक पृथक सवाल है जिस पर हम पृथक विचार करेंगे।

हाबसकृत क़ैद की परिभाषा

हाबस जेल में बन्द होने को दो विभागों में बाँटते हैं, एक तो यह कि अभियुक्त को सुरक्षित तरीके पर रक्खा जाना, हम जिसे हवालात कहते हैं, दूसरा सज़ा, के तौर पर दुःख देने के लिये किसी की स्वाधीनता का छीना जाना (*deprivation of liberty as the inflicting of pain on a man condemned*) क़ैद *imprisonment* शब्द में वे "बाहरी बाधा से चलने-फिरने पर रोक लगने को लेतें हैं चाहे वह एक इमारत जिसको जेल कहते हैं उसमें बन्द रहने के रूप में हो, चाहे वह एक टापू में नज़रबन्द होने के रूप में हो जिसके अन्दर लोग स्वतन्त्र रूप से रह सकें चाहे वह कीसि

क़िस्म के काम करने के लिये मजबूर किये जायँ जैसे पहिले के ज़माने में सज़ाप्राप्त लोग पारा आदि की खानों में काम करते थे, चाहे वह नाव या जहाज़ में बन्द गुलाम हो (*galley slaves*), चाहे उनको ज़ंजीर से बाँधा गया हो, चाहे वे और किसी तरह रोके गये हों।" †

सज़ाओं में क़ैद की प्रथा सब से नई

हाब्स की यह परिभाषा बड़ी व्यापक है, इसमें कुछ जोड़ने को नहीं रह जाता, किन्तु क़ैद ही सज़ा का एकमात्र तरीक़ा नहीं है। सच बात तो यह है सज़ाओं के क्षेत्र में यह सब से नवागन्तुक (*newcomer*) है। पहिले तो क़ैद थी ही नहीं क्योंकि समाज इतना संगठित नहीं था कि वह किसी को क़ैद रख सके, उससे काम ले, उस पर पहरा रक्खे, उसे खिलावे इत्यादि फिर भी यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि क़ैद का जो मूलतत्व है समाज से बाहर कर देना, पंक्ति से बाहर निकाल देना, गाँव से बाहर कर देना यह बहुत पहिले से ही सभी समाजों में यहाँ तक कि आदिम समाजों में मौजूद था। इसी प्रथा का अत्यन्त उग्र रूप हम मृत्युदंड में पाते हैं। इसी रूप को सिद्धान्त रूप में गारोफालो ने *Law of Adaptation* तथा *Law of Elemination* कहा है। हम बाद को विभिन्न अपराधविज्ञानियों का परिचय देते समय इस सिद्धान्त की छान-बीन करेंगे।

एस्किमो लोगों में सज़ा के तौर पर व्यंग

अपराधों के लिये जितने प्रकार की सजायें दी जाती हैं, उनमें सबसे नरम शायद तम्बीह करना या मज़ाक उड़ाना है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से लोग बहुत से काम मज़ाक का विषय हो

† *From Leviathan as quoted by Dr. H. Smith*

जाने के कारण तथा झेंप उठानें के कारण नहीं करते। एक तरफ़ जहाँ व्यंग तथा झेंप का भय लोगों को बहुत से असामाजिक काम से बचाता है, दूसरी ओर वे बहुत से झूठ तथा ढोंग ढकोसले के कारणभूत भी होते हैं। इस प्रकार इसका प्रभाव अच्छा भी रहता है बुरा भी। एस्किमो जाति में व्यंग का सज़ा के तौर इस्तेमाल होता है। उनमें ऐसा होता है कि यदि किसी को किसी निन्दनीय काम के लिये लज्जित करना होता है, तो सभा बुलाई जाती है। फिर कोई खड़ा होकर जिसकी निन्दा करना अभीष्ट है उसके कारनामों को खोलता है और सभा के सब लोग कहकहा लगाते हैं। यदि दोषी चाहता है तो वह इसका उत्तर देता है। फिर पंचलोग निर्णय करते हैं कि कौन ठीक है। चूँकि एस्किमोलोग छोटे छोटे गिरोह में रहते हैं, इसलिये वे स्वयं ही जानते हैं कि सच्चा दोषी है या दोषारोपण करनेवाला, इसलिये बहुत आसानी से निर्णय हो जाता है।

सज़ा के अनन्त प्रकार

एस्किमो लोगों के टन्टे तो इतनी आसानी से मिट जाते हैं, किन्तु और जातियों में अपराध के विरुद्ध तरह-तरह की सज़ाओं का उपयोग किया जाता था और है। सच बात तो यह है कि मनुष्य की कल्पना में जितनी तरह की यन्त्रणायें, अपमान तथा मृत्यु के तरीके हैं उन सबका सज़ा के रूप में इस्तेमाल हो चुका हैं।

दंड के विभिन्न सिद्धान्त

हम पहिले मृत्युदंड को ही लें। आदिम काल से मनुष्य जाति ने एक प्रकार से सार्वदेशिक पैमाने पर इसका प्रयोग किया है। पहिले ही बताया जा चुका है कि मृत्युदंड पीछे असामाजिक व्यक्ति को समाज से स्थायी रूप से बहिष्कृत करने का विचार है। (*elemination theory of crime*) आदिम समाज में यह ख्याल था कि जो

व्यक्ति किसी प्रकार प्रचलित समाज के क़ानून को तोड़ता है, वह दैवी शक्तियों के विरूद्ध अपराध करता है इसलिये उसे समाज से दूर कर देना चाहिये या देवताओं की भेंट चढ़ा देना चाहिये क्योंकि उससे समाज गन्दा होता है। अपराधी के संसर्ग से समाज के गन्दे होने के सिद्धान्त को *infectoin theory of crime* याने अपराध का संक्रमण-सिद्धान्त कहते हैं। समाज के विरूद्ध उसने अपराध किया, इसलिये समाज उस पर वदला लेगा। यह है अपराध का प्रतिशोध सिद्धान्त (*retaliation theory of crime*)। अपराधी को कृत अपराध के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये क्योंकि उसने बुरा काम किया। यह है अपराधका प्रायश्चित सिद्धान्त (*expiation theory of punish -ment*)। आदिम लोगों को कुछ यह भी ख़्याल था कि अपराधी व्यक्ति की समाप्ति से समाज की रक्षा होती है, उसको छोड़ दिया जाय तो समाज की हानि होगी। यह है सामाजिक रक्षा का सिद्धान्त (*theory of social protection*) जब समाज में *bot*, *wergeld*,*wite* या *chinbote* आदि क्षतिपूर्ति लेकर अपराधी को छोड़ देने की प्रथा चल पड़ी, तो समझना चाहिये कि सिद्धान्त पीछे पड़ गये, किन्तु जल्दी ही देखा गया इससे बड़ी अव्यवस्था होती है। अतः सामूहिक जीवन फिर तगड़ा हो गया, और अपराधी ने जिस व्यक्तिको नुकसान पहुँचाया था, वह या उसके लड़के आदि मुद्दई न होकर स्वयं सरकार या समाज उसके विरूद्ध मुद्दई हो गया। बड़े-बड़े अपराधों में क्षतिपूर्ति उस ज़माने में चल सकी होगी जब गिरोह क़बीले या कुल की केन्द्रीय शक्ति कमज़ोर हो गई थी, साथ ही धन का मूल्य नया-नया बहुत बढ़ गया था, किन्तु ज्यों ही ये दोनों अवस्थायें गईं, त्यों ही फिर ऊपर बताये गये सिद्धान्तों का प्रचलन हुआ। तब क्षतिपूर्ति यदि ली भी जाती तो सरकार लेती, जिसका कुछ ही हिस्सा क्षतिप्राप्त (*Injured*) को मिलता इस प्रकार क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त जिसका वर्त्तमान अवशिष्ट रूप जुर्माना है, समूह के प्रति अपराध के सिद्धान्त के सामने समाप्त

हो गया। अब अपराधी केवल व्यक्ति के निकट दोषी नहीं, बल्कि सारे समाज याने समाज के शासकों के निकट दोषी हो गया। जिस व्यक्ति को नुकसान पहुँचा है, अब अपराधी को सज़ा देना उसका या उसके परिवार का काम न रह गया, बल्कि राष्ट्र या गिरोह का काम हो गया। अब अपराधी को यह अधिकार न रहा कि धन देकर मुद्दई को राज़ी कर ले। जब से यह अधिकार रद्द हो गया, समझना चाहिये कि आधुनिक दंड का तभी से सूत्रपात्र हुआ

सज़ा देने में अड़चनें

एक व्यक्ति को सज़ा देना विशेषकर मृत्युदंड देना जितना सरल मालूम होता है उतना नहीं है कैन्ट का वह कहना हम पाठक के सामने उद्धृत कर चुकें है, जिसमें वे कहते हैं कि अपराध के द्वारा समाज का भारसाम्य नष्ट होता है, उस को पुनःस्थापित करने के लिये यह ज़रूरी है कि अपराधी को सज़ा दी जाय। यदि अपराधी और अपराध का पात्र (*Injurid*) यह दो ही व्यक्ति होते और किसी तीसरे का उनसे कोई सम्बन्ध न होता तो इस प्रकार सज़ा देना सोलहो आने ठीक होता उस हालत में एक हत्यारे की हत्या कर दी जाती तो उस पर किसी को कुछ कहने सुननेका मौक़ा न होता किन्तु मुसीबत तो यह है कि बातइतनी सरल नहीं है। मान लीजिये क ने ख की हत्या की, उस हालत में इस नीति के मुताबिक ख की हत्या कर दी गई, उसको फाँसी दी गई या बिजली की कुरसी पर बैठा दिया गया या दम घुटने वाले कमरे में (*asphyxiating chamber*) में बन्द कर दिया गया, किन्तु देखना तो यह है कि इस सज़ा से समाज का भारसाम्य (*equlibrium*) बढ़ा या घटा। ख के घर का जो कुछ हो चुक हो चुका, अब क की फाँसी होने से क की स्त्री विधवा हो गई, उसके बच्चे अनाथ हो

गये इत्यादि। क की बीवी के पास रोटी का कोई ज़रिया नहीं, वह जवान है, उसको दो बच्चा पालना है, चारों तरफ प्रलोभन की कमी नहीं है, यौवन की उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ भी हैं। रोटी कमाने का कोई तरीका उसे सीखाया नहीं गया, अतः उसका पैर डिग जाता है, वह एक की रखैली होकर रहती है। फिर उसका यार उसे छोड़ देता है। अब वह स्वयं बदनाम हो चुकी है, उसके पति को फाँसी हो जानेके कारण बदनामी तो पहिलेसे ही थी, अब उसके लिये सिवा इसके कोई चारा नहीं कि वह कोठे पर जा बैठे। वह बच्चों को उनके चाचा के यहाँ छोड़ देती है, चाचा उनको यह कहकर निकाल देता है कि वे उसके भाई के लड़के ही नहीं हैं। ऐसा करने में उसका असली उद्देश्य यह है कि बच्चों की जो टूटी मड़ैया है उसके दो बिसवे ज़मीन को वह दाबना चाहता है। लड़के भाग जाते हैं, और अपराधी बनते हैं। अब बताइये कि यह भारसाम्य की स्थापना है, या और बिगाड़ना। कोई कहे कि ख का घर भी तो बिगड़ा होगा, इसलिये क का भी बिगड़ जाय, कहना न होगा कि यह बदला होगा, और कुछ नहीं। समाज को इस बदले से कोई फायदा नहीं। जो बातें क की फाँसी के बारे में कही गई वे ही बातें उसकी १० या बीस या पचास साल की क़ैद के बारे में कमोबेशी सत्य के साथ कही जा सकती है।

सज़ा न देने में भी अड़चने तथा आपत्ति

यहाँ पर कैन्ट की तरह कोई व्यक्ति चिल्ला पड़ेगा तो क्या हत्यारे को छोड़ दिया जाय? कहना न होगा कि यह भी ठीक नहीं जचता। पहिले हम बता लें कि मृत्युदंड के बारे में दोनों पक्ष का क्या कहना है, फिर इस प्रश्न के सम्बन्ध में हम किसी नतीजे पर पहुँचने की चेष्टी करेंगे।

मृत्युदंड के विपत्तियों का तर्क

जो मृत्युदंड के विपक्ष में हैं वे इस सम्बन्ध में जो कहते हैं वह यह है।

(१) मृत्युदंड एकबार हो गया तो फिर किसी कारण से भी वापस नहीं लिया जा सकता (*Irrevocable*) सभी न्यायविशेषज्ञ इस विषय पर सहमत हैं कि कभी कभी अदालत गलत व्यक्ति को दोषी क़रार दे देती है, बाद को इसका कभी-कभी पता लगता है, किन्तु यदि ऐसा किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में पता लगा और उस समय उसे फाँसी हो चुकी है, तो उस अवस्था में सज़ा को वापस लेने की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

(२) यह प्रतिशोधात्मक (*Retributive*) है जैसा कि मैंने क और ख के उदाहरण से दिखलाया है

(३) इससे सुधार नहीं होता (*Not reformatiue*), सुधार किस का होता ? जिसका सुधार होना चाहिये वह तो मर चुका। और किसी सज़ा के सम्बन्ध में सुधार का यह ढोंग भले ही चले, किन्तु इस सज़ा के सम्बन्ध में नहीं चल सकता।

(४) इससे किसी को नसीहत नहीं होती (*Not deterrent*) जिन देशोंमें मृत्यु दंड उठा दिया गया है, देखा गया कि उनमें अपराधोंमें वृद्धि नहीं हुई, न जिन देशोंमें यह बन्द होनेके बाद फिर जारी हुआ उनमें ही कुछ अपराध घटा। अक्सर हत्यारे ऐसी मानसिक स्थिति में हत्या करते हैं कि उन्हें कुछ सुधबुध नहीं रहती, कुछ लोगों की समझ में वह सामयिक तौर पर पागल हो जाता है, इसलिये सज़ा कुछ भी हो उसे परवाह नहीं रहती। बेसारे दे बेक्कारियों ने कहा है कि लम्बी क़ैद फाँसी से कहीं अधिक नसीहत करने वाली है। उन्होंने अपने ज़माने में (१७३५-६४) ऐसा ही पाया।

(५) इस दंड से सज़ा की निश्चयता घट जाती है, याने जब

असेसर, जुरी, या जज जानते हैं कि यदि यह जुर्म क़रार दिया जाय तो फाँसी ही देनी पड़ेगी तो वे सज़ा देने में हिचकते हैं, इस प्रकार दोषी कभी-कभी सज़ा से ही बच जाता है।

(६) इससे मानवीय भावुकताओं को (*Humanitarian sentiments*) को धक्का पहुँचता है, याने जल्लाद आदि जो लोग इसको कार्य रूप में परिणत करते हैं उनको मनुष्यता के दर्जे से उतर कर काम करना पड़ता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की फाँसी से कई व्यक्ति का पतन होता है।

(७) यह सब से भयंकर इच्छाकृत हत्या है। और हत्या में से हत्यारे के हाथ से बचने के उपाय रहते हैं किन्तु इसमें कुछ बचत की आशा नहीं रहती।

मृत्युदंड का पक्ष

इसके विपरीत जो लोग मृत्युदंड पक्ष में हैं वे यह करते हैं कि

(१) यह दंड समाज के ऐसे शत्रु से जिससे उसे कोई उम्मीद नहीं छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है।

इस दावे के सम्बन्ध में यह जानने लायक है कि समाज का ऐसा शत्रु कौन है जिसने एकवार कत्ल कर डाला, (और शायद कभी न करे क्योंकि कभी वह परिस्थिति ही शायद न आये) वह है, या वह व्यक्ति जिसने चोरी में १६ बार सज़ा पाई। यह कोई काल्पनिक बात नहीं। हत्यारों में (यदि वे पागल न हों) बहुत से ऐसे होते हैं, जो किसी क़ानूनी (*Technical*) कारण से छूट जाते हैं, या जिन का पुलिस पता नहीं पाती, किन्तु वे इसके बाद दुबारा हत्या नहीं करते। यानि बहुत कम करते हैं। अब पूछा जाय कि समाज का शत्रु कौन है जो जीवन में एक घड़ी के लिये अपराधी हो गया था, या वह जो जीवन के प्रत्येक पल में अपराधी बना रहा, और शायद ही कभी सुधरे। समाज की शत्रुता की दृष्टि से तो

उन्हींको फाँसी दी जानी चाहिये जो चाहे हत्या करें या न करें किन्तु ऐसे अपराधी हों कि सुधर न सकते हों।

(२) यह ऐसी नसीहत करता है जैसी कि कोई सजा नहीं

(३) यह जो कहा जाता है कि मृत्युदंड को कार्य रूप में परिणत करनेवाले जल्लाद आदि मनुष्य से पशु बन जाते हैं, यह प्रमाणित नहीं है।

(४) यह एकमात्र उपाय है जिससे समाज को ऐसे लोगों को पालने-पोषने से छुटकारा मिलता है जो इसके विरुद्ध बराबर लड़ रहे हैं। (*those who continually war upon it*)

मैंने (१) के बारे में जो कहा वह (४) के सम्बन्ध में लागू है

(५) यह वह उपाय है जिससे कि समाज का अच्छा उपादान रह जाता है, और असुधारयोग्य अपराधियों की नस्ल मिट जाती है।

मैंने (१) के बारे में जो कहा है वह फिर (५) के सम्बन्ध में द्रष्टव्य है।

कैन्ट की कसौटी पर मृत्युदंड

संक्षेप में मृत्युदंड के पक्ष तथा विपक्ष में ये ही तर्क दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक और विचार्य बात है जो खास कर मृत्युदंड के विषय में ही नहीं, बल्कि सब सजाओं के विषय में उल्लेखनीय है। मैंने पहिले ही कविजनोचित सजा या *poetic punishment* का उल्लेख किया है। उसके माननेवाले जैसा अपराध तैसा दंड देने के पक्ष में हैं। कैन्ट ऐसे मतवाले बुजुर्गों में सबसे प्रधान हैं। वे कहते हैं कि अपराध और सजा की किस्म (*Quality*) एक ही हो। तदनुसार वे कहते हैं कि मृत्यु की सजा मृत्यु ही हो, क्योंकि किस्म के ख्याल से मृत्यु की तरह कोई और बात नहीं हो सकती। मृत्युदंड के पक्षपाती बारबार इस बात को दुहराते हैं, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से

देखा जाय तो यह बिल्कुल लचर सिद्ध होगा। जो हत्या का शिकार होता है, और जो फाँसी के तख्ते पर मरता है, इन दोनों की परिस्थिति में कोई भी सामंजस्य नहीं है (१) केवल इतना ही है कि दोनों मरते हैं। फाँसी और हत्या में और कोई सामंजस्य ही नहीं। नेपाल के मृत्युदंद में मैंने नेपाल में सुना था कि इतना सामंजस्य और कर दिया जाता था कि हत्यारे ने जिस अस्त्र से मारा था, उसी अस्त्र से उसे भी मारा जाता था, साथ ही उसे उस जगह पर लाकर मारा जाता था जहाँ उसने हत्या की थी। मैं नहीं कह सकता कि मुझे जो यह बात नेपाल के मृत्युदंड के सम्बन्ध में कही गई थी वह कहाँ तक सत्य थी, किन्तु यदि यह बात सत्य रही हो तो *fit the crime* या *poetic punishment* को इस रिवाज में कहीं से अधिक निभाया गया इसमें सन्देह नहीं। जो कुछ भी हो मृत्युदंड में तो फिर भी जहाँ तक नतीजे का सम्बन्ध है कुछ सामंजस्य है, किन्तु भला चोरी और जेल में किस तरह की समता है ? (२)

अपराध और सजा में पारिमाणिक (*Quantitative*) समता

कैन्टके सिद्धान्त का जो दूसरा हिस्सा है कि अपराध और सजा की मिकदार या परिमाण में समता (*similarity in quantity*) हो, यह कहाँ तक संभव है ? इसके निभाने में तो व्यवहारिक दिक्कतें और अधिक ज्ञात होती हैं। (३) भला यदि मान भी लिया जाय कि चोरी और क़ैद में किस्म की समता है तो यह कैसे पता लगे कि ताला तोड़कर चोरी करने में कितनी, सेंध में कितनी, पाकेट मारने में कितनी और ट्रंक मारने में कितनी कैद हो ? इसकी कोई नाप का तो इस सिद्धान्त से पता नहीं लगता।

(१) *Prisons by Dr. Smith p. 83*
(२) *Ibid p.43*
(३) *Ibid p.84*

मृत्युदंड योग्य अपराध

यदि इतिहास को देखा जाय तो भी मृत्युदंड के साथ किस-किस अपराध की किस्म तथा परिमाण की समता है यह पता नहीं लगता इंग्लैंड की ओर हम दृष्टि दौड़ाते हैं तो हम पाते हैं कि वहाँ तो किसी अपराध को मृत्युदंड के योग्य करार देने के लिये मध्ययुग में होड़-सी मची रहती थी एक केवल जार्ज तृतीयके राज्य में इतने नये अपराध मृत्युदंडयोग्य करार दियेगये कि सारे प्लान्टाजेनेटों, स्टुअर्ट तथा ट्युडरों के ज़माने में इतने अपराध मृत्युदंड करार नहीं दिये गये थे। इस वृद्धि के कारण को बताते हुए १८१६ में कामन्स सभा में कहा गया था कि प्रतिनिधि-शासन के कारण लोगों को क़ानून बनाने की जो सहूलियत प्राप्त हो गई, वही इसका कारण है। पार्लियामेन्ट के कुछ सदस्य तो मानों इसलिये उधार खाये बैठे रहते थे कि मृत्युदंडयोग्य अपराधों की संख्या बढ़ाई जाय (१) शायद वे समझते हों इस प्रकार अपने को धर्मात्मा साबित करें, साथ ही देश के इतिहास में नाम रख जायँ। बढ़ते-बढ़ते ऐसे अपराधों की संख्या २०० हो गई (२) होरेस विन्डहैम ने इंगलैण्ड में तो ३५० तक मृत्युदंड के योग्य अपराधों की संख्या पहुँच जाने की बात लिखी है। हेनरी तृतीय के ज़माने में राजद्रोह के लिये एक सज़ा थी जिसको *Breaking on the wheel* कहते थे, इसमें एक प्रकारके पहिये पर चढ़ाकर अपराधी के प्राण ले लिये जाते थे (३) १५३० में एक क़ानून बना जिसके अनुसार कैदियों को गरम पानी में उबाला जा सकता था। धर्मविरोधियों को खूँटे से बांधकर जला दिया जाता था (*burned at the stake*), यही सज़ा राजद्रोही को

(१) *Criminology by H. Wyndham p. 37*

(२) *Criminology and penology by Dr. Gillin*

(३) *Imprisonment by Col. Barker p. 7*

तथा पतिघाती स्त्री को मिलती थी। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के एक साल बाद याने १७९० तक इस प्रकार खूँटे से बाँधकर जलाने की सज़ा क़ानूनी थी। (१)

मृत्युदंड की अधिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया

क़ानून बनानेवाले लोगों को मृत्युदंड में इतना विश्वास था वे किसी प्रकार इस दंड के दायरेको कम करना पसन्द नहीं करते थे। १८१० में जब यह प्रस्ताव किया गया कि दूकान से ५ शिलिङ्ग की चोरी इत्यादि छोटे अपराध के लिये फाँसी की सज़ा न दी जाया करें तो उस ज़माने के मुख्य विचारपति एलेनबरो ने कहा था "देश के सभी जजों के साथ इस बात पर मेरा एकमत है कि जनता के कल्याणार्थ अपराधियों के लिये जो आतंककारी विधान कानून में मौजूद हैं, उनको अक्षुण्ण रक्खा जाय। आप लार्डगण इस बिल को क़ानून के रूप में परिणत करने के पहिले ख़ूब सोच लें। लार्डगण, मैं तो सोच नहीं पाता कि यदि आप लोगों ने इसको कानून रूप में परिणत कर दिया, तो हमारे समाज की गति क्या होगी। हम उस समय यही समझ नहीं पायेंगे कि हम पैरों के बल खड़े हैं या सिर के बल।" एलेनबरो की यह वक्तृता व्यर्थ नहीं गई, क्योंकि यह बिल पास न हो सका, केवल यही कैन्टरबरी के आर्कबिशप तथा छै अन्य गिर्जे के महामहोपाध्यायों (*Prelates*) ने इस बिल के विरुद्ध वोट दिया (२) कानून तो वही रहा, किन्तु जनता इन क़ानून के अगड़धत्त पंडितों से अधिक मानवीय थी, इसलिये वह इन क़ानूनों की सहायता ही नहीं लेती थी। चोरी-छिछोरी के मामले में कोई मुद्दई बनने से इनकार करता था, यदि कोई बनता था

(१) *Ibid p. 8*

(२) *Criminology by H. Wyndham p. 38*

तो वह शत्रुता के कारण। उसी हालत में कानून के इन विशेषज्ञों को अपनी मर्यादा का जौहर दिखाने का मौका मिलता था इस असफलता के बाद भी फाँसी की सजा का क्षेत्र घटाने के लिये कई प्रयत्न हुए। ऐसे-ऐसे अपराध मृत्युदंडयोग्य थे जैसे किसी के बागीचे (*Park*) में से कोई झाड़ी काट लेना, खरगोशों को पालने के बाड़े को काट देना, जिप्सी लोगोंके साथ अधिक हेलमेल रखना ग्रीनविच के किसी पैन्शेनयाफ़्ते की ओर से धोका देकर पेन्शन ले लेना, आम सडक पर नक़ाब (*Mask*) लगा कर चलना इत्यादि। इन अपराधों के लिये जनता मृत्युदंड का समर्थन न करने के कारण २०० मृत्युदंड-योग्य अपराधों में केवल २५ में ही कनून को अपना बलिदान लेने का मौका मिलता था। इस बात को दृष्टि में रखते हुए सर जेम्स मैक्रिनटाश ने एक सिलेक्ट कमेटी की नियुक्ति का प्रस्ताव किया कि अत्यन्त साधारण तथा छोटे मामलों में जो फाँसी की (†) सजा रक्खी गई है कमेटी उसपर रोशनी डाले। प्रस्ताव रखते हुए। उन्होंने अपने समर्थन में सर विलियम ग्रैंट के मत को उद्धृत किया जो इस प्रकार था "गत शताब्दी के दौरान में बराबर मुद्दई, गवाह, वकील यहाँतक कि जज सब मिलकर यही प्रयत्न करते रहे कि यदि किसी कारण से अदालत में इस प्रकार का मामला आ ही गया है, तो जानते बूझते हुए उसे साबित ही न होने दिया जाय, जिससे कि कहीं अभागे अपराधी को रस्सी में न झूलना पड़े। फिर क्या यह उचित है कि एक पद्धति जिसके साथ समाज के किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति का सहयोग नहीं है रहने दिया जाय ?" स्मरण रहे कि सर मैकिनटोश ने यह नहीं कहा था कि फाँसी बिलकुल बन्द कर दी जाय, बल्कि वे केवल इतना ही चाहते थे कि हत्या तथा अन्य कुछ भयंकर अपराधों तक ही इसे सीमित रक्खा जाया। १८३२ में

(†) *Criminology p. 38*

यह ख्याल स्वीकृत हुआ कि प्रत्येक अपराध की सज़ा में मृत्युदंड का जो विधान है वह न होना चाहिये, इस प्रकार एक ही वार में २०० मृत्युदंडयोग्य अपराध में से १०० ही रह गये। १८३७ तक जालसाज़ी मृत्युदंड की सूची से न निकल सकी। जालसाज़ी जिस प्रकार इस सूची से निकाली गई वह दिलचस्प है। जालसाज़ी से महाजनों तथा धनियों को ही नुकसान था, किन्तु अक्सर जब कोई जालसाज़ी का मुक़द्दमा अदालत के सामने जाता तो जूरी के सदस्य सब कुछ देखते-जानते हुए भी केवल इस कारण कि अपराधी को कहीं फाँसी न लगे, मुक़द्दमा प्रमाणित हुआ यह मानने से इनकार करते थे। जूरी के सदस्य सत्य की प्रतिज्ञा पर इस प्रकार लात मार देते थे, नतीजा यह होता था कि मुकद्दमे छूट जाते थे। वे अपनी प्रतिज्ञा की पवित्रता से मनुष्यजीवन की पवित्रता को बढ़कर समझते थे। जो कुछ भी हो इस प्रकार मुक़द्दमे छूट जाने से महाजनों को बड़ा नुकसान होता था इस कारण झख मारकर उन्हें कानून में सुधार करना पड़ा, और जालसाज़ी मृत्युदंड की सूची से निकाल दी गई। (१)

चम्मच चुराने में फाँसी

ज़रा फाँसियों के नमूने देखे जायँ तो और भी आश्चर्य होता है। १८०१ में १२ साल के एक लड़के को किसी के मकान से एक चम्मच चुराने में फाँसी की सज़ा हुई थी। (२) ऐसे ही बीसियों उदाहरण हैं।

पहिले फाँसी सार्वजनिक रूप से दी जाती थी। इन मौकों पर भारी जनता इकट्ठी होती थी। यह भी एक तमाशा सा हो गया था, कभी-कभी ऐसा होता था कि जनता इकट्ठी हो गई किन्तु इतने में

---

(१) *"Jdugment of Death"* *by Horace Wyndham p.39*

(२) *Ibid*

कोई ऐसी बात हुई कि फाँसी रोक दी गई तो जनता को बड़ी निराशा होती। १८५४ में लार्ड पामरस्टन ने ८४ साल के एक व्यक्ति की फाँसी उम्र के कारण इस प्रकार रद्द कर दी, तो इसका नतीजा यह हुआ कि जनता को बड़ी निराशा हुई, और जो व्यक्ति यह सजा मौकूफ होने की खबर लेकर आया था, उसको एकत्रित लोगों ने पत्थर से मारा। (†)

१८६१ तक केवल चार फाँसी के योग्य अपराध

१८६१ तक इंगलैंड में केवल चार ही अपराध फाँसी के योग्य रह गये अर्थात् (१) सरकारी डकों (*Docks*) में आग लगाना (२) सामुद्रिक डकैती जिसमें जबरदस्ती का प्रयोग किया गया हो (*Piracy with violence*) (३) राजद्रोह (*Treason*) (४) कत्ल या हत्या। (+) नं० (१) और (२) शायद इसकारण मृत्युदंड के योग्य समझे गये हैं कि इंग्लैंड एक सामुद्रिक शक्तिहै। इस कानून से समझ में आता है कि इंगलैंड के नेता अपनी सामुद्रिक शक्ति को कायम रखना कितना महत्वपूर्ण समझते हैं कि उसमें जरा सा हस्तक्षेप भी सहन नहीं कर सकते, नहीं तो भला एक जमीन पर के कारखाने में आग लगाना और डक (*Dock*) में आग लगाने में तथा जमीन पर की डकैती और समद्र की डकैती में क्या प्रभेद है ? कहा जाता है (१) तथा (२) के अपराधों में १८६० के बाद किसी को फाँसी नहीं हुई। राजद्रोह में कहा जाता है केवल बूअर युद्ध में एक तथा १९१४-१८ के युद्ध में एकको फाँसी हुई। (††) हत्या के सम्बन्ध में इंग्लैंड में हर साल करीब ८

(†) *Ibid p. 40*
(+) *Ibid p.41*
(††) *Ibid p.41*

हत्या की चेष्टा करे (*attempt of murder*) तो भी फाँसी होने का विधान है।

(२) दफ़ा १२१ के अनुसार जो कोई बादशाह के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करता है, या इसका प्रयत्न करता है, या इसको तरग़ीब देता है, उसको मृत्युदंड या कालेपानी की सजा होगी, साथ ही उसकी सारी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जायगी।

(३) जलसेना या स्थलसेना में बग़ावत कराने में, यदि वह बग़ावत हो जाय, १३२ दफ़ा के अनुसार मृत्युदंड हो सकता है।

मृत्युदंड के तरीके

पहिले ही बताया जा चुका है कि मृत्युदंड के लिये आदिम काल से वे सभी उपाय काम में लाये गये हैं, जो मनुष्य की कल्पना में आ सकते थे। उनमें से कुछ मुख्य ये हैं—

(१) मारते-मारते मार डालना—प्राचीन असीरिया में खोपड़ी को कुचल डालने के लिये इस्तेमाल होता था। जुडिया में मैकाबिस के समय में इसका प्रयोग प्रचलित था।

(२) शिरश्छेद—गर्दन उतारना या मूड़ मारना। इस उपाय का प्रयोग असीरिया, ईरान, ग्रीक, रोमन साम्राज्य, भारत, चीन, मिश्र, श्याम, इस्रायल क़रीब-क़रीब सभी जगह था।

(३) जलाना—बैबीलोनिया में आमतौर से प्रचलित था, इसके अतिरिक्त सभी देशों में थोड़ा बहुत था।

(४) क्रूस पर चढ़ाना—रोमनों में यह उपाय उनके लिये प्रचलित था जो साम्राज्य के नागरिक न थे, इसका प्रारंभ शायद फ़िनीसिया से हुआ।

(५) डुबा देना—बैबिलोनिया में इन अपराधों के लिये अपराधी या अपराधिनी को जिन्दा डुबा दिया जाता था (क) परपुरुषगमन (ख) अवाध्य स्त्री होना (ग) पतोहू के साथ

व्यभिचार (घ) पति की अनिवार्य अनुपस्थिति में पति का घर छोड़ कर भाग जाना जब कि पति ने उसके गुज़ारे का पूरा बन्दोबस्त किया है (ङ) बीयर शराब बहुत सस्ता बेचना। यह प्रथा यहूदी तथा रोमनों में भी प्रचलित थी।

(६) जंगली जानवरों से खिलवा या नुचवा कर मार डालना—यहुदियों और रोमनों में प्रचलित था।

(७) ज़िन्दा खाल खिचवा देना—असीरिया, ईरान तथा प्राचीन सीथिया (*Scythia*) में प्रचलित था।

(८) शूली पर चढ़ाना— असीरिया तथा रोमनों में प्रचलित था

(९) फाँसी—प्राचीन काल के इबरानियों में किसी अपराधी को अपमानित करने के लिये मृत्युदंड देने के बाद झूला दिया जाता था। बहुत सी जातियों में मृत्युदंड का तरीका भी यही था।

(१०) ऊँचाई पर से लुड़का देना—रोमनों में रोम के टार्पियन पहाड़ से अपराधियों को लुड़का देना एक आम रिवाज था। विशेष कर चोरी के अपराधी गुलामों को यह सज़ा दी जाती थी। सुप्रसिद्ध *Æsop's Fables* के ईसप को इस प्रकार मार डाला गया था। असीरिया में भी यह प्रथा प्रचलित थी।

(११) पथराकर मारना—यहूदी तथा अरबों में प्रचलित था

(१२) नरेटी दबा कर मार डालना—यहूदी और रोमनों में प्रचलित था।

(१३) ज़हर पिलाना—ग्रीस में प्रचलित था।

डाक्टर गिलिन ने इन्ही उपायों को अपनी पुस्तक *Criminology and penology* में गिनाया है, किन्तु मैं समझता हूँ बिचारे गिलिन साहब ने इस सम्बन्ध में भारतवर्ष के राजाओं तथा बादशाहों की आध्यात्मिक प्रतिभा का पता नहीं पाया था। अपराधी को दीवार में चुनवा

देना, हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा डालना, हाथ के बल तथा पैर के बल टँगवा देना, विषधर सर्पों में डलवा देना इत्यादि। भारतीय शासकों की कल्पना इन उपायों से भी आगे बढ़ी हुई थी। भारतीय पुराण में प्रह्लाद का एक ऐसा व्यक्तित्व है जिस पर कहा जाता है उसके पिता हिरण्यकशिपु ने प्रचलित मृत्युदंड की सब प्रथाओं का प्रयोग किया किन्तु वह हरबार राम नाम की बदौलत बच गया। बचा या नहीं बचा इससे हमें कोई मतलब नहीं, किन्तु प्रह्लाद उपाख्यान में हम उस ज़माने के मृत्युदंड की प्रथाओं का पता पाते हैं। प्रह्लाद पर ख़ूब मज़े में एक खोजपूर्ण निबन्ध जैसे *Prahlad a study of Indian death penalties* लिखा जा सकता है। प्रह्लाद को हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाया गया, विषधर सर्पों में छोड़ा गया, पहाड़ से नीचे गिरा दिया गया, जलाने का प्रयत्न किया गया, जल्लादों में छोड़ा गया, अन्त में कहा जाता है वे खंभे से बाँधे गये, जब नृसिंहावतार प्रकट हुए। इस दृष्टि से हम देखते हैं तो प्रह्लाद से बढ़कर एक अपराधविज्ञानी के लिये दिलचस्प व्यक्तित्व हिन्दुओं के पुराणों में नहीं मिलता। प्रह्लाद के मामले से स्पष्ट है कि हिन्दुओं को आदिम युग में ही तरह-तरह से मृत्युदंड देने की तरकीबें ज्ञात थीं। हिन्दू नरक को खोजने से वहाँ गरम तेल कढ़ाई आदि में पापियों का भुना जाना मिलेगा। अनाहार में मारने का भी जिक्र एकाध जगह आया है। हिन्दुओं के पुराणों की तरह मुस्लिम दोज़ख़ के अध्ययन से भी काफी दिलचस्प बातों का पता लग सकता है।

मृत्युदंड के आधुनिक रुप फाँसी

(१) फाँसी

(१) मृत्युदंड के आधुनिक रूपों में फाँसी से ही हम सब से अधिक परिचित हैं, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत होने के कारण

भारतवर्ष में यही प्रथा प्रचलित है। फाँसी लगाने का जो तरीक़ा है वह एक पूरे अनुष्ठान (*Ceremony*) की तरह है। भारत में जिस प्रकार यह होता है उसका थोड़ा वर्णन ज़रूरी है। फाँसी की सज़ा हमेशा सबेरे को ही होती है, कुछ बहुत ही खास राजनैतिक व्यक्तियों की फाँसी में इसका व्यतिक्रम हुआ है। जिस दिन सबेरे किसी को फाँसी होनेवाली होती है, उसके पहिले दिन जल्लाद आता है, और जिस रस्सी से फाँसी लगानी होती है, उसमें बालू का भारी बोरा बाँधकर फाँसी लटकाता है। इस प्रकार रस्सी की भी परीक्षा हो जाती है, और फाँसी के यन्त्र की भी। सबेरे ही फाँसी-वाले दिन मैजिस्ट्रेट जेल में आता है और साथ ही पुलिस की एक गारद भी आती है। पहिले फाँसीवाले की हुलिया का मिलान होता है। इसके बाद मैजिस्ट्रेट की मौजूदगी में जेलर या स्वयं मैजिस्ट्रेट अपराधी को पढ़कर सुनाता है कि क्यों उसे फाँसी दी जा रही है। अक्सर फाँसीवाला कुछ भी नहीं कहता, किन्तु कभी-कभी वह बतला देता है कि वह दोषी था या निर्दोष। अवश्य ऐसे समय पर वह जो कुछ कहता है वह सच ही होता है ऐसा समझने का कोई कारण नहीं। इसके बाद उसको कोठरी से निकाला जाता है, किन्तु ऐसा करने के पहिले ही उसके हाथ पीछेसे रस्सी की सहायतासे कसके बाँध दिये जाते हैं। जब फाँसीवाला निकलता है तो वह प्राय: अपने धर्म के अनुसार ईश्वर का नाम लेता होता है, बहुत कम अवस्थाओं में वह गालियाँ देता है या फाँसी पर जाने से इनकार करता है। प्राय: वह स्वयं ही चलकर फाँसी के यन्त्र के पास जाता है। यदि वह जाने से इनकार करे, छटपटाये या मार-पीट करने पर उतारू हो तो उसे पकड़ लिया जाता है, और ज़बरदस्ती फाँसी की जगह पर पहुँचाया जाता है।

फाँसी का यन्त्र एक बहुत ही सरल यन्त्र है। दो बराबर उँचाई के लोहे के पतले बल्ले (*Poles*) परसे एक रस्सी लटकती हुई

होती है। इस रस्सी को इस प्रकार एक गोल लोहे की रिङ्ग से चलाते हैं कि वह सरक सके। जब फाँसीवाला आता है, तो सब तैयार होता है, और उसे इसी रस्सी के नीचे तख्ते पर खड़ा किया जाता है। यह तख्ता ऐसा होता है कि जल्लाद के हाथ में रेलों में सिगनल खींचने के ढंग का जो हैंडल होता है उसे खींचते ही फाँसी-वाले के पैरों के नीचे से यह हट जाय। फाँसीवाले को तख्ते पर खड़ाकर उसके पैर रस्सी से एक दूसरे से बाँध दिये जाते हैं। फिर जल्लाद उसको गले तक एक सुर्ख टोपी ओढ़ा देता है, और उसके गले में फन्दा डाल देता है। इसके बाद जेल सुपरिन्टन्डेन्ट रूमाल हिलाकर इशारा देता है, और जल्लाद के हैंडल खींचते ही तख्ता हट जाता है। फौरन फाँसीवाला नीचे कई फीट तक गिरकर फंदे के सहारे लटक जाता है। कहते हैं इस गिरने के साथ ही गर्दन टूट जाती है, और फौरन मृत्यु होती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि गर्दन नहीं टूटती, फिर तो फाँसीवाले को दम घुटकर मरना पड़ता है। कभी-कभी फाँसी की रस्सी टूट जाती है। ऐसी अवस्था में फिर रस्सी तैयार होती है, और फिर फाँसीवाले को लटकाया जाता है। लटकाने के थोड़ी देर बाद लाश निकाली जाती है तथा उसकी *Death report* याने मृत्यु की रिपोर्ट लिखी जाती है। जब यह रिपोर्ट लिखने का काम खतम हो जाता है, तभी समझना चाहिये कि फाँसी का अनुष्ठान खतम होता है। यदि फाँसीवाले के मरने में ज़रा भी शक हो तो उसका भेजा फोड़ दिया जाता है या कुछ किया जाता है जिससे उसके मरने में कोई शक न रहे।

जैसा कि कहा गया फाँसीवाले की कई बार गर्दन नहीं टूटती, और फाँसीवाले को दम घुटकर मरना पड़ता है, फिर कभी-कभी रस्सी भी टूट जाती है, इसलिये कुछ लोग यह कहते हैं कि फाँसी को छोड़कर बिजलीकी कुर्सी या दूसरे उपायों का प्रयोग करना चाहिये।

इनके विषय में समझा जाता है कष्ट कम होता है तो होताही नहीं।

(२) बिजली की कुर्सी

(२) ऐसे कहे गये उपायों में बिजली की कुर्सी या *electrocution* है। अमेरिका के अधिकांश राष्ट्रों में यह प्रचलित है। मृत्युदंडप्राप्त को एक विशेष कुर्सी पर बाँध दिया जाता है, फिर बिजली का ज़ोरदार करेन्ट दौड़ा दिया जाता है। सबसे पहिले अमेरिका के न्युयार्क प्रान्त ने इसे अपनाया†

(३) गैस का उपाय

(३) अमेरिका के सभी राष्ट्रों में मृत्युदंड के लिये बिजली की कुर्सी इस्तेमाल में नहीं आती, कुछ राष्ट्रों में उस उपाय का प्रयोग करते है जिसे *asphyxiation* या गैस से मारना कहते हैं। अपराधी को एक हवाबन्द (*airtight*) कमरे में रक्खा जाता है, इस कमरे के साथ पाइपों के ज़रिये से गैसों के आधारों (*receptacle*) का संयोग रहता है। पलक मारते ही कमरा गैस से भर जाता है। कहा जाता है यह सबसे यन्त्रणाहीन उपाय है, क्योंकि इसमें बेहोशी एक सिकंड से पहले आती है।(+)

(४) मुंडच्छेद

(४) १७८९ की क्रान्ति के पहिले फ्रान्स में ग़रीबों और अमीरों में प्रभेद केवल आर्थिक ही नहीं था, बल्कि ग़रीबों और अमीरों को दिये जानेवाले मृत्युदंड के उपाय में भी प्रभेद था। ग़रीबों को तो फाँसी दी जाती थी, किन्तु यदि कोई अमीर श्रेणी का दुर्भाग्य उसे मृत्युदंड तक लाया (अमीर, अमीर की भी तो हत्या

†*Criminology and Penology by Dr. Gillin*

(+) *Ibid*

करते थे) तो उसका मुंड काटा जाता था। इस प्रकार देखने की बात है कि श्रेणी पार्थक्य को कहाँ तक ले जाया गया था। १७८६ के पहिली दिसम्बर को स्वनामधन्य डाक्टर गिलोतिन (*Guillotine*) ने एक प्रस्ताव पेश किया कि एक ही अपराध के लिये जो धनियों और गरीबों को दो तरह से सजा मिलती है, एक सम्मानित दूसरी घृणित, यह दूर कर दिया जाय। तदनुसार क्रान्तिकारी फ्रान्स ने १७९१ के ५ सितम्बर को एक पूरा ताजीरात (*penal code*) तैयार किया, जिसमें यह था कि मृत्युदंड का अब से एकमात्र तरीका मुंड़ काटना होना चाहिये। डाक्टर गिलोतिन ने इस कारण एक यन्त्र का आविष्कार किया, जिसमें मुंड़ आसानी से काटा जा सके। बताया गया कि इस यन्त्र में मरने का कष्ट कम से कम रहकर बस एक धक्का (*shiver*) तक ही रह गया है। †

होरेस बिन्डहैम का मत

मृत्युदंड के सम्बन्ध में क़रीब-क़रीब सब तथ्य हम बता चुके। अब हमें इस विषय पर राय देनी है कि मृत्युदंड होना चाहिये या नहीं। हम यह भी बता चुके कि कुछ देशों में यह दंड कतई उठा दिया गया है, तथा इस उठाने के कारण उन देशों में हत्याओं की संख्या नहीं बढ़ी। इस सम्बन्ध में मि० होरेस की बात स्मरण-योग्य है कि "इन दोनों तरह के देशों की ठीक-ठीक तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् उनकी जहाँ मृत्युदंड है, और उनकी जहाँ नहीं हैं। इन देशों में कोई साधारण बात (*common denominator*) नहीं है, जिसको लेकर हम किसी नतीजे पर पहुँच सकें। साथ ही जिन कारणों से हत्यायें होती रहती हैं उनमें भी प्रत्येक देश में समता नहीं। कुछ देश तो ऐसे हैं जहाँ चाहे कोई भी भयंकर से भयंकर हथियार खरीदा जा सकता है, किन्तु इसके विपरीत कुछ देश हैं जहाँ इनका

† *Ibid*

पाना कठिन है। फिर एक देश में पुलिस कितनी कारगर है, पागलों की तथा आधे पागलों की किस देश में कितनी देखरेख होती है, इन बातों का हमारे विवेच्य विषय पर बड़ा प्रभाव है। यदि इंग्लैंड में हथियार तथा ज़हर खरीदने की उतनी ही आज़ादी होती जितनी अमेरिका में है तो शायद लंडन में भी चिकागो की तरह जीवन-बीमा की फीस अधिक हो जाती।" †

होरेस विन्डहैम का तर्क ग़लत

सन्देह नहीं कि मिस्टर होरेस ने जो बातें कहीं है, उनमें कुछ वज़न है, किन्तु मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न को जितना टेढ़ा समझते हैं उतना नहीं है। आखिर इतने बड़े प्रश्न को हल कर तभी दम क्यों नहीं लिया जाता ? क्या जीवन की पवित्रता किसी और प्रश्न से कम महत्त्वपूर्ण है, फिर यह लकीर की फकीरी क्यों ? मान भी लें कि रुमानिया और अमेरिका में कोई तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि बतलाया जायगा कि उनकी आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों में फ़र्क़ है, किन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि अमेरिका के राष्ट्रों में भी परस्पर मौलिक भेद है ? हमें मालूम है कि अमेरिका के ८ राष्ट्रों में मृत्युदंड नहीं है, मिचिगन ने १८४७ में इस दिशा में श्रीगणेश किया था। इन ८ राष्ट्रों के अतिरिक्त तैंतीस राष्ट्रों में वैकल्पिक तौर पर आजन्म कारावास दिया जाता है। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि इस कारण इनमें हत्या नहीं बढ़ी, जो बाक़ी सात राष्ट्रों में मृत्युदंड है उन्हीं में हत्या भी सबसे अधिक है,+ इस प्रकार होरेस साहब की बातें तथ्य की कसौटी पर ठहरती नहीं।

मृत्युदंड नहीं तो फिर क्या !

अब सिर्फ सवाल यह रह जाता है कि मृत्युदंड का उद्देश्य क्या है ? बदला ? नसीहत ? सुधार ? सुधार का तो प्रश्न ही नहीं रह जाता, कोई मर कर यदि सुधरा तो वह अपराधविज्ञान के किसी काम का नहीं है। स्वर्ग के रहनेवाले उस पर खुशी मनाना चाहें तो मनावें। तो अब प्रश्न संकुचित होकर इतना भर रह गया कि मृत्युदंड का उद्देश्य क्या है बदला लेना (*revenge*) या दूसरों को नसीहत करना (*deterrence*)? जितने प्रमाण मिल सकते हैं (*data available*) उनसे ज्ञात होता है कि मृत्युदंड नसीहत नहीं करता है। हाँ, बदला अवश्य हो जाता है। यदि यह कहा जाय बदला स्वयं (*per se*) एक जरूरी चीज़ है, तो बात दूसरी है, नहीं तो मृत्युदंड का कोई उपयोग नहीं मालूम होता। मृत्युदंड का पक्षपाती एक बात और कह सकता है, वह यह कि "यह जो जीवन की पवित्रता के नाम पर एक अपराधी को बचाने की चेष्टा है एक ऐसे व्यक्ति को जिसने स्वयं इसकी पवित्रता को नहीं माना, कहाँ तक ठीक है ? क्या यह व्यर्थ की बकझक नहीं है ? ऐसा एक जीवन रहा तो क्या, गया तो क्या ? फिर हम क्यों न उस रास्ते को लें जिसमें समाज ऐसे व्यक्ति से बराबर के लिये छुटकारा पा जावें ? क्या इस मामले में जो बिल्कुल *safe side* याने निरापद दिशा है उसे न लेना चाहिये ?" यह तर्क नया मालूम पड़ने पर भी विश्लेषण करने पर इसमें भी बदले की प्यास मिलेगी। यदि हम कहते हैं कि बदले की प्यास को बुझाने की कोई ज़रूरत नहीं, तो कुछ लोगों को यह डर होता है कि कहीं सज़ा की सारी नींव ही न ढह जाय। फिर यह प्रश्न साथ ही उठता है कि हत्या के अपराधी को फाँसी के तख्ते से उतारकर उसके साथ आजन्म जेल या कालेपानी का पुछल्ला किस सिद्धान्त के अनुसार लगा दिया जाय ? क्या इतना ही कहना

यथेष्ट न होगा कि ज्यों ही वह सुधर जाय, और योग्य अधिकारियों (*Competent authorities*) को यह विश्वास हो जाय कि वह आइन्दा ऐसा काम न करेगा, त्यों ही वह छोड़ दिया जाय—चाहे ऐसा छै महीने में हो हो। यदि यह मान लिया जाय तो यह केवल फाँसीवाले के लिये ही क्यों सब के लिये होना चाहिये। एक व्यक्ति को डकैती में १० साल की क़ैद ही क्यों हो, यदि तीन ही साल में वह सुधार जाय तो? उसके बाद उसे बन्द रखना तो बदला भले ही हो, किन्तु सुधार से इस रखने का कोई वास्ता न होगा। संभव है कि ऐसा करने से उसमें जितना सुधार हो वह भी जाता रहे।

सज़ा से अपराध का सम्बन्ध क्या हो!

यदि हम इस सिद्धान्त को माने तो कहना पड़ेगा कि सज़ा से अपराध का कोई सम्बन्ध न होना चाहिये, बल्कि सज़ा याने कष्ट (*pain*) रोक (*Restriction in movement*) तथा क़ैद उतनी ही होनी चाहिये जितनी कि उसके सुधार के लिये ज़रूरी हो, चाहे उसका अपराध कुछ भी हो। इस सिद्धान्त का अर्थ यह भी हुआ कि एक व्यक्ति को चम्मच चुराने में शायद २५ साल जेल में रहना पड़े, या शायद उसके विषय में कभी उचित अधिकारी को विश्वास ही न हो कि वह चोरी छोड़ेगा, तो उस हालत में उसे शायद कभी न छोड़ा जाय। हमारा तो तजर्बा यही है कि हत्या (बशर्ते धन छीनने के दौरान में की गई पहिले से सोची समझी हुई हत्या न हो, मनुष्य एक से अधिक बार जीवन में नहीं करता, किन्तु चोर बहुत कम सुधरते हैं। इस दृष्टि से हत्या करनेवाला जल्दी छुट जायेगा पर चोर देर में छूटेगा। इसीको दूसरे शब्दों में *indeterminate sentence* या अनिश्चित सज़ा का सिद्धान्त कहते हैं।

सुधार का मानदंड क्या है!

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है कि कौन यह तय

करेगा कि अपराधी सुधर गया, क्या ऐसा कोई उपाय है जिससे बिल्कुल न सही ६६ फी सदी सही तौर पर यह पता लग सके कि कौन सुधरा और कौन नहीं। जिस समय मैं जेल पद्धति पर विचार करूँगा उस समय इस पर विस्तार के साथ आलोचना करूँगा, किन्तु यहाँ इतना बतला दूँ कि जेल में क़ैदी कैसा व्यवहार करता है, याने उसका जेल का हिस्ट्री टिकट (*Histoy tickct*) बिल्कुल यह बता नहीं सकता कि बाहर वह क्या करेगा, या उसका आचरण कैसा रहेगा। इस हालत में यह कैसे पता लगेगा कि वह सुधरा या नहीं सुधरा। मनोविज्ञान (*Psychiatry*), मनोचिकित्सा, (*Psychoanalysis*) मनोविश्लेषण इस तरह उन्नति कर रहा है कि शायद शीघ्र ही निश्चित रूपसे इसका पता लगा लेना संभव हो, किन्तु जब तक यह संभव नहीं होता तब तक वर्त्तमान पद्धति जिसमें अपराध की असामाजिकता (*anti-socialness*) को डिग्री को देखकर सज़ा दी जाती है, ही रहेगी। हाँ इतना वर्त्तमान अवस्था में भी इस पद्धति के अन्दर संभव होना चाहिये कि क़ैदी जेल के अन्दर अधिक से अधिक छूट या निशान (*remission of sentence*) पा सके तथा नेकचलनी के कारण पहिले छोड़ा जा सके।

केवल देशद्रोह (*high-treason*) में मृत्युदंड हो

क़ैद तथा जेल पद्धति के सम्बन्ध में हम प्रथक अध्याय में विस्तृत आलोचना करेंगे, इसलिये अनिश्चित सज़ा के प्रश्न पर आगे न लिखकर यहाँ मृत्युदंड के सम्बन्ध में अपनी अन्तिम राय व्यक्त कर देंगे। सब बातों को दखने, सोचने, समझने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मृत्युदंड के होने से कोई लाभ नहीं। हाँ, साथ ही मैं समझता हूँ कि देशद्रोह (*treason*) में मृत्युदंड होना चाहिये, क्योंकि भयंकर देशद्रोही को जेल में रखना खतरनाक है, यदि वह किसी प्रकार भाग गया तो संभव है कि देश को

रसातल पहुँचा दे। ऐसी हालत में उसे कहीं बन्द रखना बहुत बड़ा खतरा लेना होगा। एक ख़ूनी यदि भाग जाय, और बाहर जाय तो अधिक से अधिक दो एक व्यक्ति को खतरा पहुँच सकता है, किन्तु भागे हुए देशद्रोही से सारे राष्ट्र को खतरा है। अवश्य साथ ही यह बात याद रहे कि बहुत भयंकर देशद्रोही को ही यह सज़ा दी जाय।

आजीवन कारावास तथा क़ैद

मृत्युदंड के बाद ही आजीवन कारावास का (*transportation for life*) का नम्बर आता है, हम इसका जेल-सम्बन्धी अध्याय में आलोचना करेंगे। इसी प्रकार कैद की आलोचना भी हम उसी के साथ करेंगे।

जुर्माना, क्षतिपूर्ति, भत्ता

किन्तु इनके अतिरिक्त जुर्माना, सम्पत्ति की ज़ब्ती-बेंत की भी सज़ा प्रचलित है। इनमें जुर्माना और सम्पत्ति की ज़ब्ती पर हम कुछ तो पहिले ही कह चुके हैं, कैद से यह सजायें कहीं नरम है। यह कहा गया है कि अदालत जहाँ तक हो सके कैद के बदले जुर्माना करे, जिससे कि लोगों पर कैद होने की शर्म (*stigma*) आसानी से न लादी जाय। इसके साथ ही लोग रोज़गार खोने से बचें। जिन मामलों में अपराधी का उद्देश्य अपराधकर धन इकट्ठा करना है, उनमें जुर्माना होना उचित समझा गया है, क्योंकि लोभ के वश उसने अपराध किया, और इसलिए सज़ा में उसके लोभ को ही धक्का दिया जाय। मारपीट में चोट पहुँचाने के लिये ३२४ (किसी खतरनाक उपाय से चोट पहुँचानी), ३२५ (ज़र्ब शदीद), ३२६ (किसी खतरनाक अस्त्र से ज़र्ब शदीद पहुँचाना) आदि ताज़ीरात हिन्द में जो दफे हैं, उनमें जुर्माने का विधान है किन्तु

अक्सर जुर्माना नहीं किया जाता। मेरी राय है कि जुर्माना पहिले हो फिर कैद, याने जुर्माना अवश्य हो, और उसमें से वसूल किये गयेरुपये से कम से कम इतना चोट पाये हुए (*injured*) को दिया जाय कि वह अच्छी तरह अपना इलाज कर सके, तथा यदि उसकी चोट ऐसी है कि वह बेकार हो गया तो उसके लिये उसी में से, या राष्ट्र की ओर से पेनशन का प्रवन्ध हो। इसी प्रकार बलात्कार में भीस्त्री के लिये जुर्माने से पेनशन की व्यवस्था की जाय क्योंकि भारतवर्ष की वर्त्तमान अवस्था में स्त्री अक्सर बलात्कृत (*raped*) होने पर घर से निकाल दी जाती है।

सम्पत्ति की ज़ब्ती

सम्पत्ति की ज़ब्ती और जुर्माने में कोई मौलिक प्रभेद नहीं है, किन्तु सम्पत्ति की ज़ब्ती के समय इसका ख्याल रखना ज़रूरी है कि अपराधी पर निर्भर लोग रोटी को तरस न जायँ, जिससे कि अपराधी बनने के लिये और नई गुंजाइस न हो जाय।

शारीरिक सज़ा (*Corporal punishment*)

शारीरिक सज़ा के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह बर्बर है, किन्तु सभी देशों में इसका बेत के रूप में प्रयोग प्रचलित है। स्मरण रहे कि यहाँ मेरा मतलब ग़ैरक़ानूनी शारीरिक सज़ाओं से नहीं है। यूरोप में *peine forte et dure* की सज़ा केवल पुरुषों के लिये ही नहीं बल्कि स्त्रियों के लिये भी थी। मध्ययुग में यूरोप में यह प्रथा बहुत दिनों तक रही कि अभियुक्त से जब पहिले अपराध स्वीकार करा लिया जाता था, तब उसको सज़ा दी जाती थी। कई ऐसे अभियुक्त होते थे कि वे अदालत में बिल्कुल चुप हो जाते थे। इसका नतीजा यह होता था कि अदालत की कार्रवाई में वाधा पड़ती थी, और वह आगे नहीं बढ़ पाती थी, किन्तु फिर भी

इससे अभियुक्त बच जाता हो ऐसा नहीं। उस अवस्था में अदालत उसके लिये यह हुक्म देती थी—

"लिहाज़ा तुमको जेल वापस ले जाया जाय जहाँ से कि तुम आये हो, और वहां तुम एक नीची कोठरी में रक्खे जाओ जहाँ कोई रोशनी न घुस पावे। फिर तुमको चित्त करके खाली ज़मीन पर लेटाया जाय, तुम्हें एक चिरकुट पहना दिया जाय जो कि केवल तुम्हारे कमर के ही इर्दगिर्द हो, और बाकी सब स्थान नंगा रहे। इसके बाद तुम्हारे शरीर पर जन्जीरों का बोझ डाला जाय, इतना कि तुम बर्दाश्त न कर सको, बल्कि उससे भी ज्यादा। पहिले दिन तुम को खाने-पीने के लिये केवल तीन लुक़मे रोटियां दी जायँ, दूसरे दिन जेल से सबसे क़रीब का रुका हुआ पानी जहाँ हो उसके तीन घूँट तुम्हें पिला दिये जायँ, तीसरे दिन फिर तीन लुकमे रोटी के तुम्हें दिये जायँ, इस प्रकार अन्त तक एक दिन रोटी के लुकमे और दूसरे दिन पानी के तीन घूँट तुम्हें दिये जायँ, जब तक तुम मर न जाओ।"†

अभियुक्त की चुप्पी पर युगों के दृष्टिकोण

इसप्रकार की सज़ा अन्तिम बार १७४१ में केम्ब्रिज के *Assizes* में दी गई†† १७७२ में यह तय किया गया कि जो अभियुक्त इस प्रकार अपने दोष के सम्बन्ध में हाँ ना कुछ न कहे, उसे दोषी मान कर जो उचित सज़ा हो वह दी जाय। १८२८ में यह बात तय हुई कि अच्छा जो व्यक्ति इस प्रकार चुप्पी साध जाय, उसके सम्बन्ध में यह समझा जाय कि वह यह कह रहा है कि वह निर्दोष है।+

---

† *Criminology by Horace Wyndham p.27*

†† *Ibid.*

+*Ibid.*

हेनरी फिल्डिं के मत

१७५१ में हेनरी फिल्डिं नामक एक व्यक्ति ने ज़ोरो से यह कहा कि इंग्लैंड में जो अपराधी के साथ बर्ताव होता है, वह सबसे अधिक मनुष्यतापूर्ण है। इसी साँस में इस महाशय ने *pillory* के साथ जो अपराधी को कान छेदकर टाँच दिया जाता है उस प्रचलित प्रथा का समर्थन किया। †

सभी सज़ा शारीरिक कष्ट, फिर भी बेत लगाना विशेष

आधुनिक समय में सारे सभ्य जगत में हवालाती को शारीरिक यन्त्रणायें (*torture*) की प्रथा उठा दी गई है, किन्तु शारीरिक दंड को कहीं भी बिल्कुल उठा नहीं दिया गया है। यों तो बेड़ी डालना, हथकड़ी डालना, खड़ी हथकड़ी देना तथा कड़ी मशक़्क़त करने के लिये बाध्य करना भी शारीरिक कष्ट के अन्दर आ सकते हैं, और आते हैं, इनका प्रयोग तो सर्वत्र है ही किन्तु इनकी निविड़ता तथा गंभीरता उतनी नहीं है जितनी बेत लगाने की है। केवल बेत की ही एक ऐसी सज़ा है जिसको आधुनिक दंडों में शारीरिक दंड कह सकते हैं।

बेंत मारा जाय या नहीं

बेत के सम्बन्ध में सब शारीरिक सज़ाओं की तरह एक तरफ तो यह कहा जाता है कि यह अमानुषिक है, किन्तु कैन्ट के उस सिद्धान्त को देखते हुए कि सज़ा के साथ अपराध का गुणगत (*qualititative*) तारतम्य होना चाहिये, कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ अपराध के लिये निष्ठुरता का प्रयोग किया गया हो, जैसा डकैती में, या जहाँ शारीरिक सुःख ही अपराधी का उद्देश रहा हो

† *Ibid*, *p*. 28.

जैसा बलात्कार में वहाँ शारीरिक दुख देने की नीयत से बेत मारना ज़रूरी है। यदि कैन्ट का गुणगत तारतम्य का सिद्धान्त मान लिया जाय, तब तो इस बात को मानने में कोई भी दिक़्क़त न हो, किन्तु जैसा कि सब सज़ाओं के सिलसिले में कहा जा चुका है इस मौलिक सिद्धान्त के बारे में भी कहा जा सकता है कि अपराध को बन्द करना हमारा उद्देश्य है, या बदला लेना ?

बेत की सज़ा कहाँ कहाँ और क्यों !

बेत की सज़ा वर्त्तमान युग में केवल साधारण अदालतों में ही नहीं, फौज तथा जलसेना में भी प्रचलित है। जेल में अनुशासन क़ायम रखने के लिये कुछ ख़ास मौक़ा पर भी बेत का प्रयोग किया जाता है। भारतीय जेलों में क़ैदियों को इस समय केवल तभी बेत लगाया जाता है जब कि वे दंगा कर दें, या जेल कर्मचारी पर हमला करें। मशक़्क़त से लगातार बहुत दिनों तक इनकार करते रहने पर भी बेत लगाया जा सकता है, इसी प्रकार कभी-कभी जेल में अप्राकृतिक व्यभिचार के कारण भी बेत लगाये गये हैं ऐसा मैंने देखा है। मेरा निजी तजर्बा यह है कि अपराधी बेत से बहुत ज्यादा डरते हैं, अक्सर क्या हमेशा मैंने देखा है कि वे तीस बेत सहने के बजाय एक साल जेल में रहना अधिक पसन्द करते हैं। जेलों में क़ैदी दंगा-फ़साद तथा अफ़सरों पर हमला नहीं करते, इसका एक बड़ा भारी कारण बेत का भय है, इसमें कोई सन्देह मुझे नहीं है। अप्राकृतिक व्यभिचार के बहुत कम मामले जेलरलोग सज़ा के लिये पेश करते हैं, इसलिये इस अपराध के ऊपर सज़ा का क्या विशेष असर पड़ता है यह कहा नहीं जा सकता। इस विषय पर हम आगे फिर जेल पर विचार करते हुए विचार करेंगे।

बेत सब मर्ज़ों की दवा नहीं

अवश्य कुछ बदमाश ऐसे हैं जो बेत खाकर भी अनुशासन में

नहीं आते, बल्कि बेत से वे अपने साथियों में और वीर हो जाते हैं। चूंकि बेत से अपराधी डरते हैं, इसलिये यह समझना कि वह सब मर्जों की दवा (*panacea*) है गलत है। कोई भी जेल का अफसर इस बात को मानने के लिये बाध्य होगा कि एक तरफ तो बेत से कुछ लोगों पर रोब जम जाता है, किन्तु दूसरी तरफ बेत लगाने पर भी कुछ लोगों पर बिल्कुल असर नहीं होता है। १८७२ में केवल कोयम्बटूर सेन्ट्रल तथा जिला जेल में ५०० क़ैदियों को अनुशासन-भंग के लिये बेत लगे, † किन्तु अब मुश्किल से सारे हिन्दुस्तान की जेलों में हर साल जेल के अपराधों के लिये १०० व्यक्ति को बेत लगते हैं, फिर भी आजकल जेल का अनुशासन पहिले से कहीं अधिक अच्छा है यह तो मानी हुई बात है।

बेत की परीक्षा

कुछ अपराध विज्ञान के विद्वानों की समझ में कम-उम्र के अपराधियों को पहिली बार बेत लगना चाहिये। मैं नहीं समझता इससे विशेष कुछ फ़ायदा होता है, जितने भी दुबाड़े हैं उनमें से अधिकतर लड़कपन से अपराध करते रहे हैं, और उनको बेत भी लग चुके हैं, जिससे प्रमाणित है कि उन्हें बेत बेकार को लगे। यदि यह मान भी लिया जाय कि एक कम-उम्र चोर को बेत अखर जाते हैं, किन्तु साथ ही उसे यह विश्वास भी तो हो जाता है कि आइन्दा वह चोरी करे तो उसे बेत नहीं लगेंगे, बल्कि क़ैद या दूसरी कोई सज़ा होगी, ऐसी हालत में क्या उम्मीद की जा सकती है कि वह बेत से घबड़ाये तथा चोरी न करे। बेत का क्या असर है यह पता तभी लग सकता है जब कि अपराधी के सामने एकबार बेत लगने के बाद फिर उससे अधिक बेत लगने का डर मौजूद हो, किन्तु वस्तुस्थिति यह है

---

† *Report of the Indian Jails Committee and "Imprisonment" by Col. Barker, p. 75.*

कि ऐसा नहीं होता। मैजिस्ट्रेट लोग पहिली बार बेंत देकर दूसरी बार क़ैद ही देते हैं।

सज़ा-निर्णय या विचार के तरीक़े

अपराध के साथ ही साथ इस प्रकार हम देख चुके कि सज़ा की धारणा अनिवार्य रूप से बँधी हुई है। आदि काल से ही यह समझा गया है कि न्याय का लम्बा हाथ अन्यायी को हानि पहुँचाये बग़ैर न्यायी (*just*) की सहायता नहीं कर सकता। † यह भी हमने देख लिया कि यह धारणा कि अपराध के बाद अपराधी के साथ असाधारण बर्ताव किया जाय जिसे शुद्धि, प्रायश्चित्त या सज़ा जो चाहे कहिये, बहुत पुरानी है। † हमने यह भी दिखाने की चेष्टा की कि समाज के इस प्रयत्न के पीछे क्या-क्या उद्देश्य तथा संस्कार हैं, तथा उनको ढकने के लिये या स्पष्ट करने के लिये क्या-क्या सिद्धान्त निकाले गये हैं। अब हम संक्षेप में बतलायेंगे कि सज़ानिर्णय, दोषनिर्णय या विचार के क्या तरीक़े हैं।

इंग्लैंड की (*Sanctuary*) प्रथा

हम पहिले ही बता चुके कि यहूदियों में सैंक्चुअरी की प्रथा थी, याने अपराधी व्यक्तिगत बदले से भागकर किसी पवित्र स्थान में आश्रय ले सकता था, वहाँ वह व्यक्तिगत बदले से तब तक बरी समझा जाता था जब तक कि उसके मुक़द्दमे का फ़ैसला हो जाय। किन्तु इंग्लैंड में सैंक्चुअरी से दूसरी ही पद्धति का बोध होता था। इस देश में यह प्रथा थी कि एक अपराधी जाकर किसी गिर्जा या उसके दायरे में आश्रय ले सकता था, केवल राजद्रोह या धर्मद्रोह की ही हालत में उसको आश्रय नहीं दिया जाता था। दूसरे

---

† *Sacrament of simple folk' by* R. R. *marett p. 134.*

† *Ibid, p. 145.*

अपराधों में अपराधी गिर्जे के अन्दर आश्रय लेने पर एक सीमित काल तक बरी समझा जाता था। इस अवधि के अन्त के बाद उसे टाट पहिनकर कारोनर (*coroner*) के पास जाना पड़ता था, फिर अपना अपराध स्वीकार करते हुए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह राज्य के बाहर चला जायगा। उसको राज्य छोड़ने के लिये समय दिया जाता। यदि इस समय के बाद वह राज्य छोड़कर न जाता, या छोड़ने के बाद बिना अनुमति प्राप्त किये लौट आता तो उसे सख़्त सज़ा दी जाती थी। अपराधी राज्य छोड़कर अवश्य चला जावे, और धोखा देकर रह न जाय, इसलिये उसे यह हुक्म दिया जाता था कि वह फलाना बन्दरगाह से फलाने दिन के अन्दर रवाना हो जायगा। साधारणत: डोवर तथा प्लिमौथ (*Dover and Plymouth*) से इस प्रकार के लोग रवाना किये जाते थे। यहाँ से इस प्रकार राज्य छोड़कर जाने के बाद वे यूरोप के अन्य देशों में अपनी हरकत जारी करते थे।†

इस प्रथा का विस्तार

जेम्स प्रथम के समय में यह प्रथा दूर किये जाने पर भी, दीवानी अपराधियों के लिये गिर्जों में आश्रय लेने की प्रथा बहुत बाद तक जारी रही। लंडन में ऐसे स्थान कई थे जहाँ अपराधी जाकर आश्रय ले सकते थे, इनमें सबसे मुख्य वेस्टमिमिन्टर था, जिसमें बहुत जगह थी, व्लैकफ्रायर में लेखक लोग आश्रय लेते थे; इनके अतिरिक्त सावय तथा सौथवार्क भी इस काम के लिये थे। ये स्थान हमेशा दुष्टों से भरे पड़े रहते थे, जहाँ से वे क़ानून को अँगूठा दिखाते रहते थे।

मुद्दई और मुद्दालह के मल्लयुद्ध से अपराधनिर्णय

मध्ययुग में अपराध के पता लगाने की एक दूसरी प्रणाली

† *Criminology by Wyndham p. 34.*

थी जिसको "*Wager of battle*" या *Trial by combat* कहते थे। यह एक आदिम प्रथा है। पहिले-पहल इंग्लैंड में इसकी प्रथा विलियम प्रथमके समय में चलाये जानेका पता मिलता है। इस प्रथा के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी के ऊपर ऐसा अभियोग लाता था जिसे वह साबित नहीं कर पाता, तो अभियुक्त को यह अधिकार होता था कि वह अभियोक्ताको लड़नेके लिये चुनौती देता फिर दोनों में युद्ध होता। यदि अभियुक्त जीतता तो वह निर्दोष समझा जाता था किन्तु यदि वह हार जाता तो उसे दोषी समझकर फाँसी दे दी जाती थी। इस प्रथा के पीछे यह धारणा थी कि अभियुक्त यदि निर्दोष है तो ईश्वर उसकी सहायता करेगा। (१) इस प्रथा को इसलिये 'ईश्वरी फैसला' *Judgment of God* भी कहते थे। इंगलैंड में १८१८ तक यह प्रथा कायम रही। (२) इस सम्बन्ध में यह पता चलता है कि १८१८ में मेरी ऐशफोर्ड नामक एक युवती की हत्या के लिये अब्राहम थार्नटन नामक एक व्यक्ति पर मुक़द्दमा चला, किन्तु अदालत ने अब्राहम को इस मुकद्दमे से बरी कर दिया। इस पर मेरी के भाई ने अदालत के सामने यह अर्ज़ी पेश की कि उसे अब्राहम से लड़कर इस बात को तय करने का अधिकार दिया जाय कि मेरी का हत्याकारी अब्राहम थार्नटन है या नहीं। इस समय तक इस प्रकार दोष निर्णय का जो क़ानून था, वह रद्द नहीं किया गया था, अतः माननीय जजों को मेरी के भाई की माँग माननी पड़ी। इस प्रश्न पर फैसला देते हुए विचारपति ऐलेनबरो ने कहा "यह हमारा कर्त्तव्य है कि जैसा क़ानून हो, हम उसी के मुताबिक अपना फैसला दें, यह नहीं कि जैसा हम चाहते हैं वैसा करें।" अब्राहम थार्नटन ने इस फैसले को मान लिया, और लड़ने को

(१) *Ibid p. 29.*
(२) *Sacrament of simple folk p. 147*

तैयार हो गया, किन्तु मेरी का भाई उसके मुक़ाबले में कहीं कमज़ोर था, इसलिये अन्त में वह प्रस्ताव से पीछे हट गया, इस प्रकार सारा प्रस्ताव ही रद्द हो गया। तबसे यह क़ानून ही उठा दिया गया, और अब मुद्दई और मुदालह में युद्ध या कुश्ती दोष-निर्णय के तरीक़ों में नहीं समझा जाता अब यदि कोई मुदालह छूट गया, और मुद्दई उससे लड़े, तो उस पर नाजायज़ मारपीट का मुक़द्दमा उलटा गँठ सकता है। (१) महाभारत में ढूँढ़ने पर ऐसे बहुत से उदाहरण मिलेंगे, जिससे ज्ञात हो जायगा कि यह प्रथा हिन्दुओं के लिये अपरिचित नहीं है। कभी-कभी राजाओं में भी इस प्रकार व्यक्तिगत मल्लयुद्ध हो जाता था, उसमें उनकी सेनायें भाग नहीं लेती थीं। चलते-चलते हम यह कह दें कि वैयक्तिक झक में हज़ारों व्यक्ति को झुकवा देने के बजाय इस प्रकार राजा लोग सत्य का निर्णय कर लेते थे, यह कुछ बुरा नहीं था।

साक्षरता से अपराधनिर्णय

ये प्रथायें तो थीं ही, किन्तु जिस प्रथा में श्रेणी-भेद का सबसे अधिक परिचय मिलता है वह है मध्ययुग की *Benefit of clergy* की पद्धति। इस प्रथा के अनुसार जो व्यक्ति एक *Psalm* या धर्म-गान पढ़ लेता, वह उन सज़ाओं से बरी समझा जाता था जो अशिक्षितों को दी जाती थीं। इस नियम के होते हुए भी लार्ड लोग अपराध से प्रायः बरी नहीं हो पाते थे, क्योंकि उनकी शिक्षा धर्मगान पढ़ने तक की भी नहीं थी। इसलिये इतना और इस प्रथा में जोड़ना पड़ा था कि लार्ड लोग भी इसी प्रकार बरी समझे जायँ। लार्ड बाइरन ने १७६५ साल में एक बहुत ही घृणित हत्या से मुक्ति इसी नाते पाई थी कि वे एक लार्ड हैं। (२)

(१) *Criminology, p. 30*
(२) *Ibid, p. 30*

जजों के कुछ चोंचले

कानून के बरतने के सिलसिले में कभी-कभी बड़ी मजेदार घटनायें हो गई हैं। कुछ जजों को यह मर्ज़ था कि जब वे किसी अभियुक्त को फाँसीकी सज़ा भी देते तो वे बड़ी देर तक उस अभागे पर शब्दोंकी बर्षा करते। इस प्रकार लार्ड एरकग्रेव ने (जो १७८४ से १८०५ तक जज थे) एक दर्ज़ी को जिसने एक पलटनिया को मारा था मृत्युदंड देते हुए कहा था "कठगड़े के क़ैदी, न केवल तुमने एक व्यक्ति की हत्या की जिससे कि उसने प्राण खोये, बल्कि तुमने उसकी पेटी में जो सरकार की सम्पत्ति थी उसके अन्दर एक भयानक अस्त्र प्रवेश कराकर, तथा इस प्रकार उसे छेदकर अपने अपराध में इज़ाफ़ा किया।" एक दूसरे मौके पर उन्होंने अपनी अदालत में आई हुई एक बुर्क़ापोश गवाह से यों कहा, "नौजवान औरत, यहाँ तुम अपने को ईश्वर तथा इस ऊँची अदालत के रुबरू समझो। इसलिये अपना बुर्क़ा उठा लो, सब लज्जा त्याग दो, और मेरे चेहरे की ओर सीधा ताको।" (१)

वकील नियुक्ति प्रथा

अभियुक्तके साथ न्याय करनेकी इच्छा पहिले कोई स्पष्ट नहीं थी जो फँस गया, वह फंस गया यही समझा जाता था। १८३७ तक तो इंगलैंड में यह प्रथा थी कि वहां यदि किसी पर कोई गंभीर अपराध याने *felony* लगाया जाता जिसके अन्दर भुट्टे की एक बाली चुराना भी आ जाता था, तो उसे यह अधिकार न होता था कि वह अपनी ओर से मुक़दमे को साफ करनेके लिये कोई वकील नियुक्तकरे। (२) बहुतसे लोगों को यहसन्देह है कि वकील नियुक्त करनेकी प्रथा वाक़ई

(१) *Ibid*
(२) *Ibid, p. 61*

अच्छी है कि नहीं, सचमुच इससे मुकद्दमा स्पष्ट होता है या इसके विपरीत अपराध को और आश्रय मिलता है। अच्छी तरह देखा जाय तो वकील की नियुक्तिके कारण बहुत से अपराधी जरूर कानून की कमियों का फायदा उठाकर उसके पंजे से निकल जाते हैं, किन्तु साथ ही निरपराधी को सज़ा होने की संभावना कम हो जाती है इसमें संदेह नहीं। यदि कानून का उद्देश्य यह है कि अपराधी चाहे न्याय के पंजे से निकल जायँ, किन्तु किसी भी हालत में निरपराध को सज़ा न हो, जैसा कि कहा गया है कि वह है, तब तो यही कहना पड़ेगा कि वकील की प्रथा अच्छी है। एक बात यहां स्पष्ट कर दी जाय कि कानून का उद्देश्य या समाज का उद्देश्य वकील प्रथा को क़ायम रखने में तो यही है कि न्याय की सहायता हो, यह बात दूसरी है कि वकील लोग रुपये लेकर बिल्कुल इसके विपरीत ही चेष्टा करते हैं। अस्तु

अभियुक्त का बयान, पत्नी तथा उपपत्नी की गवाही

१८५१ तक दीवानी मामले में तथा १८६८ तक फौजदारी मामले में अभियुक्त को अपना बयान देकर मुकद्दमे पर रोशनी डालने का अधिकार नहीं था। (१) इसके भी बहुत दिनों के बाद तक पत्नी को गवाही देने का हक़ नहीं था। इसका नतीजा एकबार यह हुआ कि एक व्यक्ति ने अपनी उपपत्नी की गवाही से यह साबित कर दिया कि जिस समय बताया गया कि उसने अपराध किया, उस समय वह अपनी उपपत्नीके साथ था, और इस प्रकार वह छूट गया। किन्तु यही गवाही यदि उसकी स्त्री देती तो वह दे ही नहीं सकती थी। इसी प्रकार यदि उपपत्नी आकर गवाही देती तो हत्यारे को फाँसी हो सकती थी, किन्तु उसकी स्त्री आकर गवाही दे ही नहीं सकती थी चाहे उसने अपनी पत्नी की

आँखों के सामने ही किसी की हत्या की हो। (१)

मुकद्दमे का आधुनिक तरीक़ा

अब तो सभी क़ानून के सिद्धान्त के अनुसार अदालत अभियुक्त को तब तक निर्दोष समझती है, जब तक उस पर अपराध प्रमाणित न हो जाय। अभियुक्त को अधिकार है कि वह वकील की सलाह ले, और स्वयं या वकील के ज़रिये गवाहों से जिरह करे, फिर अपनी ओर से गवाह तथा दस्तावेज़ पेश करे, तथा अन्त में स्वयं या अपने वकील के ज़रिये अपने को निर्दोष साबित करते हुए बहस करे। फिर इस पर भी सज़ा हो गई तो उसे अधिकार है कि अपील करे। अपील वह निम्नलिखित कारणों में से किसी पर कर सकता है।

(१) कि क़ानून के ग़लत अर्थ के कारण उसको सज़ा हुई।

(२) कि क़ानून के ग़लत अर्थ लगाने के साथ ही साथ मुकद्दमे के तथ्यों को अदालत ने नहीं समझ पाया, इस कारण उसे सज़ा हुई।

(३) कि उसे सज़ा अधिक हुई।

इस प्रकार सिद्धान्त का जहाँ तक सम्बन्ध है, सब बिल्कुल ठीक है, किन्तु कैसे गवाह झूठ बोलते हैं, पुलिसवाले झूठ बुलवाते हैं, जज ग़लत सज़ा देते हैं, आदि पहिले भी आ चुका है, बाद को भी आयेगा। सम्पूर्ण न्याय होने के लिये केवल यही ज़रूरी नहीं है हमारे मन की पश्चाद्भूमि में ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्त हों, बल्कि यह भी ज़रूरी है कि न्याय की धारणा स्वयं ठीक हों, फिर यह भी चाहिये कि न्याय के बरतनेवाले ठीक हों, और ये सब तभी हो सकते हैं जब समाज-पद्धति में बराबरी की गुंजाइश हो।

(१) *Ibid, p. 65.*

३

जेल की पद्धति

जेल का आदिम रूप—हवालात

जेल-पद्धति वर्त्तमान अर्थों में न सही किन्तु अपराधी को कैद करने के अर्थ में बहुत पुरानी है। गुलामी की प्रथा से भी क़ैद करने की प्रथा का बहुत ही निकट सम्बन्ध है। प्राचीन भारत में किसी न किसी अर्थ में जेलें मौजूद थीं, यह हम दिखा चुके हैं। पुराने अहदनामे के पढ़नेवाले जानते हैं कि किसी प्रकार इमलाह-पुत्र मिकाया (*Micaih*) को हवालात में तब तक रक्खा गया था, जबतक राजा अहाब (*Ahab*) ने रैमोथ (*Ramoth Gilead*) के विरुद्ध अभियान से लौटकर उसके मामले में फैसला न दे दिया। मिकाया के लिये ख़ैरियत तो यह हुई कि अहाब विजेता होकर लौटे ही नहीं, नहीं तो उनकी काफी दुर्गति होती इसमें सन्देह नहीं। मिकाया के जेलर को यह हुक्म दिया गया था कि उन्हे "दुःख की रोटी खिलाकर दुःख का घूँट पिलाया जाय"। (१) मध्ययुग के प्रारंभ में जब कि अगंभंग तथा फाँसी की सज़ा अधिकतर प्रचलित थी, तब तो जेलों की ज़रूरत केवल हवालातियों के लिये पड़ती थी, सो यह काम किसी भी प्रकार के माकन, गढ़, तहख़ाने से ले लिया जाता था।

ब्राइडवेलों की सृष्टि

इंगलैंड में ट्यूडर नरपतियों के ज़माने में बहुत से नये कानून

(१) *Prisons by Dr. H. Smith, p. 13*

बनाये गये, फलस्वरूप इस बातकी ज़रूरत पड़ी कि विशेषकर आवारों के लिये कुछ रहने की जगह बढ़ाई जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ब्राइडवेलों की सृष्टि की गई। १५७६ के ऐक्ट के अनुसार ये ब्राइडवेल बने। ब्राइडवेल नाम की पहली संस्था लंदन में सेन्ट ब्राइड या ब्रिजेट के कुँवे (*Well*) के पास बनी थी, इससे इसका नाम ब्राइडवेल पड़ा, और जो भी संस्था इसके अनुकरण में दूसरी बनाई गई उसका नाम ब्राइडवेल पड़ा। आवारों को पकड़कर इन संस्थाओं में दाखिल कर दिया जाता था, और वहाँ उन्हें इस बात के लिये मजबूर किया जाता था कि वे अपनी रोटी आप कमावें। इस प्रकार इस संस्था का उद्देश्य यह था कि उनके चरित्र में सुधार हो, साथ ही दूसरों को आलसी होने से रोका जाय। कहा जाता है कि ब्राइडवेलों का असर काफी अच्छा रहा। ब्राइडवेलों के पहिले जो मामूली जेलें थीं वे तो रहीं, किन्तु धीरे-धीरे अब इनका उपयो छोटेमोटे अपराधियों के लिये होने लगा। १७२० के ऐक्ट में मैजिस्ट्रेटों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे चाहें तो छोटे-मोटे अपराधियों को ब्राईडवेलों में या मामूली जेलों में भेजें। (१)

जेलों में कोई केन्द्रीकरण नहीं था

इस बीच में इंगलैंड और वेल्स में दो सौ मामूली जेलें भी बन चुकी थीं, किन्तु एक तो विभिन्न जेलों में बिल्कुल ही विभिन्न तरीक़ा बर्ता जाता था, दूसरा उनमें कोई एक कानून नहीं था। अवश्य यह समझा जाता था कि सिद्धान्त रूप से सब जेलें राजा की (*Belongs to the King*) या सरकार की हैं, किन्तु वास्तविक रूप में तो वहाँ जेलर की इच्छा ही असली कानून था। १८७७ तक भी यह हाल था कि जेलें स्थानीय सरकारी यंत्र का अगं थीं, किन्तु इसके बाद एक केन्द्रीय विभाग के ही मातहत

(१) *Ibid, pp. 19—21.*

सारी जेलें कर दी गई। अठारहवीं सदी के आखिर में जेलों की जनसंख्या क्या थी इसका कोई पता नहीं, क्योंकि कोई केन्द्री भूत विभाग तो था ही नहीं जो इस बात का या किसी बात का हिसाब रखता। १७९९ में हावर्ड के अनुसार इंग्लैंड की जेलों की जन संख्या ४३७५ थी, जिसमें से आधे तो दीवालिया लोग थे। उस समय की कम आबादी को देखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उस ज़माने में सारी जनसंख्या की तुलना में जेल में बन्द लोगों की संख्या बहुत कम थी। हावर्ड के हिसाब के अनुसार एक लंडन की जेल के अतिरिक्तसभी जेलों की १०० से कम आबादी थी। (१)

जेल बिल्कुल नरक

जेलके अन्दर जेलर का ही राज्य रहता था जैसे आजकल गाँजा, भाँग, शराब का ठेका दिया जाता है। उसी प्रकार सत्राहवीं तथा अठारहवीं सदी के प्रारंभ में इंग्लैंड में जेलों का ठेका दिया जाता था, १७३० में क़ानून बनाकर यह प्रथा बन्दकर दी गई। जेल के अन्दर घूस लिया जाता था, साथ ही जेल में शराब का मनमाना दाम लिया जाता था, इन बातों से जेलर को बहुत फ़ायदा रहता था जेल के अन्दर न कोई सफाई ही रहती थी और चूँकि सब तरह के लोग, पुरुष तथा स्त्री, पागल तथा सही दिमाग़, बच्चे तथा बालिग़ एक साथ रक्खे जाते थे, इसलिये वहाँ की जो हालत थी उसकी कल्पना ही की जा सकती है। उस जमाने की जेलों का वर्णन बिल्कुल नरक के वर्णन से मिलता-जुलता था।

जान हावर्ड का आन्दोलन

इसी युग में याने १७७३ में जान हावर्ड बेडफोर्ड के शेरीफ (*Sheriff*) नियुक्त हुए। इस प्रकार अब जेल से उनका सीधा सम्बन्ध हो गया। १७७७ में उन्होंने *The State of the prisons*

(१) *Ibid p. 22.*

नामक एक पुस्तक लिखी। इसमें उन्होंने जेल के विषय में जो बातें लिखी, उनसे देश में सनसनी फैल गई। यह बात नहीं कि हावर्ड ने ही पहिले-पहल जेलों की ओर दृष्टि दी थी, बल्कि इसके पहिले ही पार्लियामेन्टके सदस्य तथा अन्यलोगों की इस ओर दृष्टि जा चुकी थी। हाँ, अब हावर्ड की पुस्तक से सब लोगों को बस्तुस्थिति का अच्छी तरह पता लग गया। हावर्ड ने इस पुस्तक को १७७७ में लिखा किन्तु वे इसके पहिले से ही जेल-सुधार के लिये आन्दोलन कर रहे थे उन्हीके आन्दोलनके फलस्वरूप १७७६ में एक जेल हार्शम *Horsham* में बनाई गई। इस जेलका क्या असर हुआ यह बताते हुए १२ साल बाद इसके अध्यक्ष ने कहा था "दुष्टोंको एकान्त में रखकर उन्हे सोचने के लिये वाध्य किया जाने का तथा इस प्रकार अपनेसे परिचय प्राप्त करने का इतना अच्छा असर रहा है कि केवल एक ही कैदी फिर से जेल आया।"

हावर्ड के विचार

हावर्ड की सीधी देखरेख में कुछ दूसरी भी जेलें खोली गईं। हावर्ड के अनुसार कैदी को जेल में रखने का सब से अच्छा तरीका यह है कि उसे धर्म की शिक्षा दी जाय, साथ ही उसको काम में लगाकर रक्खा जाय, और ऐसे लोगों को आपस में मिलने न दिया जाय, जो एक दूसरे पर बुरा असर पैदा करे। सर विलियम मेरिडिथ ने भी हावर्ड के सुधार के काम में हाथ बटाया।

जेल-सुधार के सम्बन्ध में जेरेमि बेन्थाम के विचार

अब इसके बाद हम सुप्रसिद्ध दार्शनिक जेरेमि बेन्थाम को जेल के मामलों में दिलचस्पी लेते पाते हैं। १७९१ में उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की *Panopticon or the Inspection house*, इसमें उन्होंने एक आदर्श जेल की योजना पेश की। इस योजना में

उन्होंने यह उम्मीद पेश की कि जेल प्रणाली घाटे पर नहीं, बल्कि मुनाफे के साथ चलाई जा सकती है। अब तक यह होता था कि जेलों की संख्या कम होने के कारण सब लोग जेल में रक्खे नहीं जा सकते थे, कुछ लोगों को पुराने जहाज़ों में क़ैद रक्खा जाता था। इनको *hulks* कहते थे, इस प्रथा की उत्पत्ति १७७६ में हुई थी, किन्तु इन्हें दूर करते-करते १८५८ लग गया। (१)

बेन्थाम की योजना

बेन्थाम ने सरकार के सामने एक योजना पेश की जिसमें उन्होंने वादा किया यदि उनकी योजना मानी गई तो वे क़ैदियों को ढंग से रक्खेंगे, साथ ही उनके सुधार तथा स्वास्थ्य के लिये ज़िम्मेदार होने का वचन भी दे दिया। उन्होंने कहा कि योजना माने जाने पर वे (१) क़ैदियों को अच्छा खाना देंगे, (२) क़ैदियों को जो कपड़े दिये जाते हैं उनसे कहीं अच्छा कपड़ा देंगे, (३) उनको अच्छे बिस्तरे दिये जायेंगे, (४) उनके लिये गर्मी तथा रोशनी का प्रबन्ध किया जायगा, (५) उनको किसी प्रकार की शराब नहीं दी जायगी, (६) उनको, इस प्रकार रक्खेंगे कि उन्हें किसी प्रकार बदचलनी का मौक़ा ही न मिले, साथ ही इतने अलग न रक्खे जायेंगे कि उनके लिये असह्य हो, (७) वे जो काम करें उस की मज़दूरी का कुछ हिस्सा उन्हें दे दिया जायगा जिससे कि उन्हें काम में दिलचस्पी रहे, (८) जेल को विद्यालय बना दिया जाय जिससे कि वहाँ से लौटने पर एक व्यक्ति अपने को दुनिया के लिये ज़रूरी ज्ञान में साथ ही किसी पेशे के योग्य पावे। इनके अलावा बेन्थाम ने यह भी कहा कि वे इस बात की ज़िम्मेदारी लेते हैं कि क़ैदी के छूटने के बाद वे उसके लिये काम का प्रबन्ध करेंगे। इस प्रकार बेन्थाम ने अपनी योजना में बहुत-सी बातें सरकार के

(१) *Prisons by Dr. H. Smith, p. 30*

सामने रक्खी थीं जो आज के किसी भी अपराधविज्ञानी के लिये गर्व की बात है, किन्तु नेपोलियन के साथ युद्ध होने के कारण सरकार ने इस योजना को मंजूर नहीं किया। १७६४ में जाकर एक ऐक्ट बना जिसमें इस योजना को कार्य-रूप में परिणत करने का मौक़ा मिला। (†)

कैदियों के लिये देश से बाहर भेजने का प्रबन्ध

एक बात याद रहे कि इस बीच में अस्ट्रेलिया महादेश खुल जाने से कैदियों को रखने की जगह का प्रश्न इंग्लैंड की सरकार के लिये बहुत कुछ हल हो गया। १७७० में ही सरकार के सामने यह साधन आ चुका था। होते-करते फिर भी कैदियों को लेकर पहिला जहाज़ १७८८ में न्यू सौथ वेल्स के लिये रवाना हुआ। १८५० तक न्यू सौथ वेल्स में इस प्रकार कैदियों का भेजा जाना जारी रहा। दूसरे परिवर्तित रूप में फिर भी कैदियों का पश्चिमी अस्ट्रेलिया में १८६६ तक, वरमूडा में १८६२ तक तथा जिब्राल्टर में १८७५ तक भेजा जाना जारी रहा। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में ही अधिकारियों पर यह खुल चुका था कि कैदियों को समुद्र पार भेजने की योजना अधिक दिन चल नहीं सकती, और जल्दी या देर में सरकार को इसके लिये कोई न कोई और प्रबन्ध करना पड़ेगा। (††) समुद्र पार भेजा जाना (*transportation*) शब्द ब्रिटिश क़ानून से १८५७ में निकाल दिया गया, किन्तु जैसा कि देखा गया इसके बाद बहुत वर्षों तक यह रिवाज जारी रहा।

फ्रान्स और रूस का कालापानी

फ्रान्स में इस प्रकार कैदियों को गायना (*Guinea*) में पहले

(†) *Ibid, p. 33.*
(††) *Ibid, p. 34.*

भेजा जाता था, किन्तु कहा जाता है यहाँ का स्वास्थ्य फ्रान्सीसियों के मुआफिक़ नहीं पड़ा, इसलिये इसको केवल फ्रेञ्च साम्राज्यान्तर्गत हबशी और अरब क़ैदियों के लिये कालेपानी रक्खा गया। फ्रेञ्च क़ैदियों के लिये नया कैलिडोनिया रहा। हाँ, कुछ सामरिक क़ैदियों को अलजिरीया भेजा जाता था। रूस में क़ैदियों को या तो साखालिन द्वीप या साइबेरिया में भेजा जाता था। सुप्रसिद्ध औपंयासिक चैखौफ (*Chekhoff*) ने स्वयं जाकर इन क़ैदियों की अवस्था देखी और उनका मर्मस्पर्शी वर्णन लिखा। (१)

विलियम पेन का प्रयोग

हावर्ड तथा बेन्थाम से क़रीब-क़रीब सत्तर वर्ष पहिले अमेरिका के पेनासिलवेनिया के क्वेकर उपनिवेश में क़ैदियों को लेकर एक प्रयोग किया जा चुका था। इस योजनाके प्रवर्त्तक विलियम पेन यूरोप की जेलों में रह चुके थे, इसलिये उनकी योजना के अनुसार हवालातियों को अपराध-स्वीकार कराने के लिये यन्त्रणा देना तथा दूसरी-दूसरी रोंगटे खड़े करनेवाली सज़ाओं के लिये स्थान नहीं रहा। इन सज़ाओं के स्थान पर कड़ी मशक़्क़त, बेंत लगाना, जुर्माना तथा सम्पत्ति जब्त की सज़ा का प्रयोग किया गया। एक हत्या के अलावा और किसी अपराध में फाँसी की सज़ा नहीं रही। पेन १७१८ में मर गये, (२) इसके बहुत बाद १७७६ में अमेरिका में क्रान्ति हो जाने के बाद पेनसिलवेनिया की धारासभा ने पेन की योजना को कार्यरूप में परिणत करने की तैयारी की। केवल चार ही अपराध अब मृत्युदंड के योग्य रहे (क) हत्या, (ख) बलात्कार, (ग) आग लगाना और (घ) देशद्रोह। (३) १७६०

(१) *Criminology and penology by John Lewis.*

(२) *Ibid.*

(३) *Ibid.*

में सुप्रसिद्ध वालनट जेल खोली गई। इसमें कैदियों को न तो किसी प्रकार की बेड़ी पहननी पड़ती थी, न उनको किसी प्रकार की जंजीर में बाँधा जाता था। सन्त्रियों पर हुक्म था कि वे किसी प्रकार का भयंकर हथियार इस्तेमाल न करें। (†) हाँ, कैदियों को सभी समय बिल्कुल चुप रहना पड़ता था। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद मालूम पड़ता है कि शुरू-शुरू में इस जेल में काम करना अनिवार्य था या नहीं।

ओबर्न-पद्धति (*Auburn system*)

इसके साथ ही न्यूयार्क राष्ट्र की राष्ट्रीय जेल ओबर्न में खुली यह एक नई तरह की जेल थी। इस पद्धति में कैदी को तीन मंज़िल के ज़रिये से गुज़रना पड़ता था। पहली मंज़िल में क़ैदी अकेले रक्खा जाता था, और उसे काम इसलिये नहीं दिया जाता था कि कहीं काम करने से उसका समय आसानी से न कट जाय। दूसरी मंज़िल में उसे अकेला तो रक्खा जाता था, किन्तु काम दिया जाता था। तीसरी मंज़िल में क़ैदी को दूसरों के साथ बैठकर काम तो करने दिया जाता था, किन्तु बड़ी कड़ाई के साथ उसको किसी से बात करने से रोका जाता था। दिन में तो उसे इस प्रकार काम करना पड़ता था, किन्तु रात को उसे बिल्कुल अकेला रक्खा जाता था, और यह समझा जाता था कि "वह बाईबल पढ़ता है, और अपने विषय में विचार करता है।" यदि काम करने में कोई कैदी किसी प्रकार सुस्ती करता था, या मौन भंग करता था, तो उसे शारीरिक सज़ा दी जाती थी, याने कोड़े लगाये जाते थे। कोड़े लगाने का अधिकार जमादारों को था। †

---

† *Ibid.*

† *Prisons by Dr. H. Smith, p. 35.*

जेल की दो पद्धतियाँ

इस सम्बन्ध में एक द्रष्टव्य बात यह है कि इस प्रकार जेल की दो विभिन्न पद्धतियाँ ही बन गईं, एक तो *separation system*, या पृथक्कीकरण-पद्धति, दूसरा *solitary system* या एकाकी पद्धति। पहिली-पद्धति में क़ैदी को अपनी कोठरी में काम करना पड़ता था, और उससे कसरत तथा प्रार्थना इस प्रकार कराई जाती थी कि वह अपने साथियों के साथ किसी प्रकार बातचीत न कर सके। कई जगह तो ऐसा होता था कि प्रत्येक कैदी अलग-अलग होते (*yard*) में कसरत करता था, जेल-गिर्जे में भी जाता था तो उसको दूसरे कैदियों से अलग बाक्स में रक्खा जाता था, या कहीं-कहीं ऐसा रिवाज था कि कसरत तथा गिर्जे में दूसरे क़ैदियों के बीच जाते समय उसके चेहरे पर नक़ाब डलवाया जाता था। (१)

Solitary पद्धति

यह पद्धति तो बहुत ही कठिन थी, किन्तु *solitary* पद्धति इससे भी कहीं भयंकर थी। इस पद्धति में क़ैदी किसी भी दूसरे क़ैदी को देख तक न सकता था। कुछ भी हो ये दोनों पद्धतियाँ काफ़ी सख्त थी, और इनसे क़ैदी के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को गहरा धक्का पहुँचता था। (२)

अमेरिका की देखादेखी इंग्लैंड में भी इन दोनों पद्धतियों के समर्थक मौजूद हैं किन्तु अब उनका विशष चलता नहीं दीखता।

कड़ी मशक़्क़त

१७७६ में पहिले-पहल इंग्लैंड के क़ानून में "*imprisonment*

---

(१) *Prisons by Dr. H. Smith.*

(२) *Ibid.*

with hard labour" याने कड़ी मशक़्क़त के साथ क़ैद शब्द आया। बात यह है पहिले जो कालेपानी (*transportation*) की सज़ा दी जाती थी, उसे बन्दकर उसकी जगह पर यह आया, किन्तु यहाँ बता दिया जाय कि यह कालेपानी को भेजा जाना केवल सामयिक तौर पर बन्द रह सका। कड़ी मशक़्क़त (*hard labour*) शब्द का अर्थ क़ानून में कभी स्पष्ट नहीं किया गया, किन्तु १८६४ के एक कमीशन ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिस काम से साँस जल्दी-जल्दी चलने लगे, और पसीना आ जाय, वही कड़ी मशक़्क़त है। बताया जाता है कि ट्रेडह्वील यन्त्र का चलाना ही एक ऐसा काम था जो इस परिभाषा के अनुसार कड़ी मशक़्क़त में आ जाता था। (१)

जेल में मशक़्क़त के उद्देश्य

डाक्टर गिलिन ने अपनी पुस्तकों में जेल की मशक़्क़त के पाँच उद्देश्य बतलाये हैं (१) जेल जीवन की इकरसता को दूर करना (२) कड़ी मशक़्क़त के ज़रिये अपराध को दबाना, (३) क़ैदियों के काम से कुछ पैदाकर जेल का खर्च घटाना, (४) सुधार, (५) जेल अनुशासन स्थापित करना। (२)

परिश्रम हो किन्तु उत्पादक नहीं

कुछ लोगों के मतानुसार क़ैदियों से ऐसा काम लिया जाना चाहिये जिसमें परिश्रम तो हो, किन्तु वह परिश्रम उत्पादक न हो। इसी धारणाके अनुसार पहिले जिस ट्रेडह्वील यन्त्र का उल्लेख किया गया, वह और क्रैंक (*Crank*) का उपयोग जेल में किया जाता था। इन दोनों यन्त्रों के बारे में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि इनको चलवाने का उद्देश्य क़ैदी से कड़ी मशक़्क़त लेना ही था।

---

(१) *Ibid, p. 42.*

(२) *Criminology and Penology by J. L. Gillin.*

पुरानी रस्सियों का रेशा-रेशा अलग करना (*Oakum picking*) भी उस ज़माने में एक बहुत ही प्रचलित मशक़्क़त थी। लकड़ी के जहाज़ के ज़माने में यह एक मशक़्क़त थी जिसका कुछ उपयोग तो था ही। अधिकारी इसे इसलिये पसन्द करते थे कि इस काम के करने में न तो कुछ सिखाने की ज़रूरत थी न कुछ देखरेख करने की।

जेल क़ानून में सुधार

फिर भी १८७७ का *Prison Act* तक इंग्लैंडकी विभिन्न जेलों में बहुत कुछ विभिन्न तरीक़ा था। इस क़ानूनके अनुसार गृह-सचिव (*Home-secretary*) एक कमीशन नियुक्त करते हैं, जिसके मातहत सभी जेलें होती हैं। इस कमीशन को यह अधिकार है कि वह चाहें तो क़ैदियों को छोटी-मोटी सुविधायें दे। हर साल यह कमीशन जेलों के सम्बन्ध में गृह-सचिव को एक रिपोर्ट पेश करता है। इन्हीं रिपोर्टों के आधार पर जेलोंकी परिचालनाके लिये एक तफ़सीलवार क़ानून बना। पहिले केवल क़ैदियों के प्रति बर्ताव में ही विभिन्नता थी यह नहीं, बल्कि सार्वजनिक रिकार्डों में भी बिल्कुल ही गड़बड़ी रहती थी। पहिले तो दुर्बल चित्त (*feeble-minded*) तथा आंशिक रूप से पागल क़ैदी भी जेल में एक साथ रक्खे जाते थे, किन्तु १९०१ में ऐसे क़ैदियों को बिल्कुल छाँटकर अलग कर दिया गया। पहिले केवल चर्च आफ इंग्लैंड सम्प्रदाय के पादरी ही जेल में आते थे, किन्तु धीरे-धीरे सभी सम्प्रदायों के पादरियों के लिये हुक्म हो गया कि वे जेल में जाकर अपने सम्प्रदायवालों को धार्मिक सहायता दे सकते हैं। (१)

और सुधार

कुछ सुधार होने पर भी पुरानी पद्धति के अनुसार प्रथम

(१) *Prisons, p. 63.*

अपराधी, अ......, शिक्षित, मूर्ख, शराबी, वेश्या, दुबाड़ा, सब को एक-ही सा बर्ताव दिया जाता था। इस पद्धति की मुख्य चीजें यह थीं (१) मौन (२) कोठरी में मशक्कत या ट्रेड्व्हील (३) सब तरह की विलासिता से वंचित होना (४) बाहर से कोई खबर न आने देना। केवल कुछ लोग जो *first class misdemenapts* कहलाते थे, वे इस बर्ताव से बरी समझे जाते थे। सिद्धान्त रूप से यह समझा जाता था कि एक क़ैदी नेकचलनी, श्रमशीलता तथा हुक्म मानकर कुछ सुविधायें प्राप्त कर सकता था, किन्तु इन सुविधाओं में ऐसी शर्तें लगी हुई थीं कि छोटी क़ैदवालों को यह सुविधायें नहीं मिल सकती थीं। (†) इस पद्धति के बर्तने के फलस्वरूप जेलों में आत्म-हत्या की संख्या बहुत हुई, इससे जनता में बहुत असन्तोष बढ़ा, और मिस्टर हर्बर्ट ग्लैडस्टोन के सभापतित्व में एक कमेटी इसके कारणों की जाँच करने के लिये बैठी। १८९५ में इसकी रिपोर्ट निकली जिसमें कहा गया कि क़ैद के नसीहतकुन पहलू (*deterrent aim*) पर अनुचित ज़ोर डाला गया था, और सुधार को कोई फ़िक्र नहीं की गई थी। साफ शब्दों में इसका अर्थ क़ैदी से बदला लेने की चेष्टा की जाती थी, न कि उसे सुधारकर फिर से नागरिक बनाने की। १८९८ में इङ्गलैंड में जो जेल ऐक्ट बना वह इसी कमेटी की रिपोर्ट का नतीजा था। अब इस ऐक्ट के अनुसार क़ैदी शुरू में कुछ दिन अकेले रहने के बाद दूसरे क़ैदियों के साथ काम कर सकता था। क़ैद में कुछ छूट या निशान पाने की भी अब क़ैदी के लिये गुंजाइश होगई। जेल के स्थानीय अधिकारी को बेत लगाने का अब अधिकार न रहा। केवल अफसरों पर हमला या दंगा करने के कारण ही बेत लग सकते थे, किन्तु यह भी अब परिदर्शक कमेटी के तीन सदस्यों के हुक्म से हो सकता था। इसके

(†) *Ibid p.64*

बाद भी होम-सेक्रेटरी की मंजूरी की ज़रूरत होगई। इसी प्रकार १९०७ में एक प्रोबेशन ऐक्ट बना तथा १९०८ में *Prevention of Crime Act* बना। शेषोक्त क़ानून के अनुसार बोरस्टाल पद्धति का प्रारम्भ हुआ। हम बाद को बतलायेंगे कि बोरस्टाल पद्धति क्या है। १९०८ में *The Children Act* बना जिसके अनुसार अब १४ साल से कम उम्र का लड़का या लड़की का जेल भेजा जाना बन्द हो गया, तथा चौदह से सोलह साल तक की उम्र के लड़के तथा लड़की को केवल ख़ास-ख़ास मामलों में ही जेल भेजा जा सकता था। १९१४ में *Criminal Justice Amendment Act* बना, जिसके अनुसार यह हुआ कि जिन लोगों को केवल जुर्माना होता है उनको उसको अदा करने के लिये समय दिया जाय। (१)

इङ्गलैंड के जेलों का वर्गीकरण

इङ्गलैंड तथा वेल्स की जेलें चार श्रेणियों में विभक्त हैं

(क) स्थानीय जेलें (*Local prisons*)।

(ख) बड़ी मियाद की जेलें (*Convict prisons*)।

(ग) दुबाड़ों की जेलें (*Institutions established by the Prevention of Crime Act 1908 for dealiing with habituals under preventive detention*)।

(घ) बोरस्टाल संस्थायें जिसमें १७ से २१ साल तक के अपराधी रक्खे जाते हैं

इङ्गलैंड की जेलों में क़ैदियों का वर्गीकरण

इङ्गलैंड में कैदियों का जिस प्रकार श्रेणी विभाग किया जाता है, वह भी इस सिलसिले में जानने योग्य है। क़ैद सख्त या महज़ होती है, इङ्गलैंड में किसी को क़ैद होने (*imprisonment without*

(१) *Ibid p. 69*

labour) का अर्थ यह नहीं कि वह बिल्कुल आलसी रहे जैसा कि भारतवर्ष में है, उन्हे भी कुछ न कुछ सरल काम करना पड़ता है। जिनको इङ्गलैंड में बिना मशक्कत की सज़ा होती है, उनको प्रथम या द्वितीय श्रेणी में रक्खा जाता है। प्रथम श्रेणी का क़ैदी अपने कपड़े पहिन सकता है, अपना खाना ख़रीद सकता है, रोज़ चिट्ठी, पुस्तक, अख़बार पा सकता है, तथा अपने मित्रों से रोज़ भेंट भी कर सकता है। इतना होते हुए भी उन्हें कुछ न कुछ काम करना पड़ता है। इस श्रेणी में बहुत थोड़े से लोग रक्खे जाते हैं, अक्सर केवल अदालत की तौहीन में सज़ा पानेवालों को इस में रक्खा जाताहै। द्वितीय श्रेणी में भी केवल बिना मशक्कत की सज़ा पाने वालों को रक्खा जाता है, इस श्रेणी में मिलने को तो तीसरी श्रेणीवालों से कुछ अधिक नहीं मिलता, किन्तु तीसरी श्रेणीवालों को कुछ मजबूरियां रहती है जो इन्हें नहीं रहतीं। जिनको कड़ी मशक्कत के साथ सज़ा होती है, उनको पहिला महीना बिल्कुल एकान्त वास में काटना पड़ता है, और साथ ही पहिले पन्द्रह दिन तक तख़्ते पर सोना पड़ता है। द्वितीय श्रेणी के कैदियों को इन सब बातों को भुगतना नहीं पड़ता। साथ ही उनको अन्य श्रेणियों के कैदियों से अलग रक्खा जाता है। वे तीसरी श्रेणी से अधिक पत्र लिख तथा पा सकते हैं। उनकी मिलाई (*interview*) भी अधिक जल्दी होती है। किन्तु उनका कपड़ा तथा खाना तीसरी श्रेणी के कैदियों की ही तरह होता है और काम भी उन्हें वही करना पड़ता है। द्वितीय श्रेणी भी बहुत कम लोगों को दी जाती है। †

स्टार श्रेणी

इङ्गलैंड की जेल-पद्धति में *Star Class* एक ख़ास चीज़ है। फ्रान्स में जिसे *crimes 'd occasion* कहते हैं, उससे स्टार क्लास बहुत

† *English Prison System by Sir Evelyn Ruggles Brise*

मिलता जुलता है। यदि एक व्यक्ति को पहले किसी गंभीर अपराध में सजा नहीं हुई है, तथा उसका पूर्व जीवन स्वभावतः अपराध-पूर्ण नहीं था या उसकी आदतें खराब नहीं हैं, तो वह स्टार श्रेणी में आ सकता है। यदि बहुत छोटे अपराधों में दो या तीन बार सजा हो चुकी है, या बड़े अपराध में बहुत वर्ष पहिले सजा हो चुकी है, तो इससे भी स्टार श्रेणी में बाधा नहीं पहुँचती। सच बात तो यह है कि कौन स्टार श्रेणी में आ सकता है कौन नहीं, यह इस बात से निर्णय करने की चेष्टा ही नहीं की जाती कि उसे सजा मिली या नहीं मिली, बल्कि वह आदतन पतित है या नहीं। इस प्रकार जिसने पहिले बार एक पत्नी के रहते हुए दूसरी से शादी करने का (*bigamy*) अपराध किया है। वह स्टार श्रेणी में आ सकता है, किन्तु जो ऐसा कई स्त्रियों के साथ कर चुका है, वह इस श्रेणी का हकदार नहीं है। बलात्कार यहाँ तक कि छोटी लड़की पर बलात्कार करने के कारण भी कोई स्टार श्रेणी से वंचित नहीं माना जायगा, किन्तु यदि कई लड़कियों पर अत्याचार किया गया हो, तो दूसरी बात है। यदि धोखाधड़ी (*fraud*) का मामला हो तो उसमें देखा जाता है कि धोखा कितने समय तक दिया गया, एकबार या लगातार बहुत दिनों तक। फिर प्रलोभन किस प्रकार का था, रुपये किस तरीके से प्राप्त किये गये या प्राप्त करने की चेष्टा की गई, यदि रुपये मिले तो उनका उपयोग किस प्रकार किया गया, यहाँ तक कि जिसको धोखा दिया गया, उसपर क्या असर पड़ा यह भी देखा जाता था। चोरी के माल प्राप्त करने वाले, सिक्का बनाने वाले धमकी देकर या डराकर रुपया वसूल करनेवाले, धोखेबाजों के गिरोहों के सदस्य, गर्भ गिराने का पेशा करनेवाली स्त्रियाँ तथा अन्य ऐसे मामलों में जहाँ लगातार अपराध (*prolonged and persistent crime*) किया गया हो, स्टार श्रेणी नहीं दी जाता (१

(1) *Indian Jails Committee 1919-20 p. 83*

जेल में बात-चीत पर रोकटोक

स्थानीय जेलों में साधारण तौर पर बात चीत करने की इजाज़त नहीं रहती थी, किन्तु कानविक्ट जेलों (*convict prisons*) में रविवार के दिन क़ैदी को बात चीत करने दी जाती है। किन्तु इस बात-चीत पर नियन्त्रण रखा जाता है। सुप्रसिद्ध जेल-विशेषज्ञ मिस्टर मिचेल इनस (*Mitchell Innes*) ने लिखा है कि "जेल में यदि बात-चीत अनियन्त्रित तरीक़े से करने दी जाय तो इससे उनको अफ़सरों पर झूठे अभियोग लगाने, भागने, दंगा करने तथा भड़काने में सहायता मिले।" अब बात-चीत पर उतनी रोक-टोक तो नहीं रही, किन्तु अब भी इङ्गलैंड की जेलों में बात-चीत बिलकुल स्वेच्छाचारिता से नहीं करने दी जाती।

इङ्गलैंड की जेल में क़ैदी की दिनचर्या

मिस्टर मिचेल ईनस ने भारतीय जेल कमेटी के सामने एक बयान पेश करते हुए क़ैदी की दिनचर्या का निम्नलिखित वर्णन किया था "स्थानीय जेल के एक क़ैदी की दिनचर्या इस प्रकार होती है—वह सवेरे साढ़े पाँच बजे उठता है, फिर मुंह-हाथ धो-कर कपड़े पहनता है, और फिर एक घंटे तक अपनी कोठरी में ही काम करता है। इसके बाद उसकी कोठरी में ही नाश्ता आता है, इसके बाद यदि उसदिन गिर्जे का दिन हो तो वह प्रार्थनागृह (*chapel*) में जाता है। साढ़े आठ बजे वह अपने हाते से निकाला जाता है। और एक चक्राकार स्थान में कसरत करता है। यदि वह प्राथमिक अवस्था में है तो इसके बाद उसे फिर कोठरी में लौटाया जाता है। किन्तु यदि वह उसे पारकर चुका है तो उसे कारखाने में जाकर सब के साथ काम करना पड़ता है। दोपहर के समय कोठरी में खाना परोसा जाता है। प्राथमिक अवस्था वालों के लिये काम

साढ़े बारह ही बजे शुरू होता है। किन्तु दूसरे डेढ़ बजे काम शुरू करते हैं। साढ़े चार बजे फिर खाना परोसा जाता है। फिर कोठरी के अन्दर ५ से ७ बजे तक काम होता है। ८ ब जेबत्तियां बुझा दी जाती हैं।"

लोकल (*Local*) और कान्विक्ट (*Convict*) जेल

स्थानीय जेलों में साधारणतः दो साल तक के कैदी रक्खे जाते हैं। समझा जाता है कि छोटी कैद में सख्ती के बिना कैदियों पर कुछ नसीहतकुन प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये उनमें सख्ती अधिक रहती है। पहिले-पहल जो कैदी एकदम अकेले रक्खा जाता है, तख्ते पर सुलाया जाता है, कहा जता है कि इन सबका प्रभाव कैदी के मन पर यह दिलाना होता है कि जेल बहुत खराब जगह है। जिन लोगों को *penal servitude* की सज़ा होती है, और यह तीन साल से कम नहीं होती, उनको कानविक्ट जेलों में रक्खा जाता है। इन जेलों में कैदियों के ऊपर सख्तियां कुछ कम होती हैं, धारणा यह है कि अधिक समय तक रोक-टोक के अन्दर रहने से ही सख्ती अधिक न होने पर भी सख्त मालूम पड़ेगा। उधार लेकर न दे पानेवालों को स्थानीय जेलों में रक्खा जाता है।

जहां तक हो सके जेल नहीं

इङ्गलैंड तथा यूरोप के अन्य देशों में अब यह सिद्धान्त रक्खा गया है कि जहां तक हो सके अपराधी को जेल न भेजा जाय। जैसा कि बताया गया है १९१४ के *Criminal Justice Amendment Act* के मुताबिक किसी के लिये जुर्माना न दे सकने के कारण जेल भेजे जाने की कम से कम संभावना रह गई है। अदालत अब इस बात के लिये मजबूर है कि

अपराधी को अधिक से अधिक समय इस बात के लिये दे कि वह अपना जुर्माना अदा कर दे। जो अदालतें *Courts of Summary Jurisdiction* कहलाती हैं, वे मुख्यत: जुर्माने की ही सजा देती हैं। १९०७ का जो *Probation of Offender's Act* है, उसके मुताबिक अदालतें अपराधी को क़ैद की सजा देकर तुरन्त ही जेल भेजने के लिये मजबूर हैं ऐसा नहीं, बल्कि यदि अपराधी का यह पहिला मौका है तो उसको कुछ रोक-टोक के सथ छोड़ सकती है। यदि अपराधी लड़का है तो वह किसी औद्योगिक (*industrial*) विद्यालय में या रिफार्मेटरी में भेजा जा सकता है। यदि अपराधी नौजवान (*adolescent*) है तो उसे बोरस्टाल संस्थाओं में भेजा जा सकता है। (१)

लम्बी मियाद में ही सुधार के प्रयोग संभव

जिनको लम्बी सजायें मिली हैं उनके ऊपर जेल-अधिकारियों को अपने प्रयोग को पूरी हद्‌तक पहुँचाने का मौक़ा मिलता है। इङ्गलैंड तथा दूसरे यूरपीय देशों में यह माना जाता है कि लम्बी मियाद के कैदियों के लिये सबसे जरूरी बात यह है कि उनका ठीक-ठीक वर्गीकरण हो तथा जिस कैदी के लिये जैसे बर्ताव की जरूरत है हरेक व्यक्ति के मामले में उसी प्रकार क विभिन्नबर्ताव (*differential treatment*) हो

लम्बी मियाद वाले क़ैदियों का वर्गीकरण

लम्बी मियाद की जेलों मे क़ैदियों को तीन विभाग में बाँटा जाता है

(१) वे जो बहुत संभव है सुधरें (*as probably reclaimable*)

---

(१) *Summary of the English Prison system in the report of the U.P Jail Committee 1928-29*

(२) वे जो शायद सुधरें (*as possibly reclaimable*)
(३) वे जो शायद न सुधरें (*unlikely to be reclaimable*)

किस श्रेणी के क़ैदी किस जेल में

इस प्रकार विभाजित प्रथम श्रेणी के क़ैदी मेडस्टोन(*Maidstone Convict Prison*) में रक्खे जाते हैं। दूसरी श्रेणी पार्कहार्स्ट (*Parkhurst*) तथा तीसरी श्रेणी के क़ैदी डार्टमूर (*Dartmoor Convict Prison*) में रक्खे जाते हैं। क़ैदियों को एलसबरी (*Aylesbury*) तथा लिवरपूल जेलों में रक्खा जाता है।

पक्के अपराधियों की समस्या

क़ैदियों की एक श्रेणी है जिसके सम्बन्ध में ऐसा मालूम होता है कि कुछ भी किया जाय वह सुधर नहीं सकती। बहुत दिनों से ऐसे लोगों के सम्बन्ध में यह अन्दोलन होता रहा है की इनको छोड़ा ही न जाय, क्यों की इनको छोड़ना माने केवल यह होता कि समाज के उपर थोड़ा सा अत्याचार ये और करें। सरकार या पार्लियामेन्ट इस बात को मानने के लिये कतई तैयार नहीं थी कि किसी व्यक्ति को मरते दम तक क़ैद में रक्खा जाय, फिर भी यह जो आन्दोलन था उसके पीछे भी सत्य था, इस लिये १६०८ में एक कानून बना, जिसके अनुसार इस प्रकार का अपराधी जिससे समाज निराश हो गई हो जिसे कम से कम तीन बार सज़ा हो चुकी हो तथा जिसकी बदमाशी की जिन्दगी प्रमाणित हो गई हो उसे कम से कम ५ तथा अधिक से अधिक १० वर्ष तक जेल में रक्खा जा सकता है इस प्रकार के लोगों को रखने के लिये पार्कहार्स्ट के पास ही कैम्पहिल (*Preventive detention prison*) में विशेष प्रबन्ध है। इसमें आते ही कैदी को साधारण वर्ग में रक्खा जाता है, किन्तु ६ महीने तक नेक चलनी से रहने पर वह विशेष वर्ग (*grade*) में

रक्खा जाता है, किन्तु यदि उस की चालचलन किसी प्रकार फिर खराब पाई जाय तो वह चाहे साधारण वर्ग में हो, चाहे विशेष वर्ग में, उसे उतार कर अनुशासित वर्ग (*disciplinary grade*) में रक्खा जाता है। प्रत्येक वर्ग के लिये विशेष-विशेष नियम है। कैम्पहिल जेलके लिये एक सलाह देने वाली कमेटा है, जो प्रत्येक कैदी की चाल-चलन रंगढंग तथा मनोवृत्तिको ध्यानपूर्वक अध्ययन करती है, और यदि उसकी समझ में किसी कैदी को शर्त लेकर छोड़ देना उचित मालूम देता है, तो वह उसबात की सिफ़ारिश करती है। जब एक व्यक्ति इस प्रकार छूट जाता है, तो उस पर देख-रेख रक्खी जाती है, किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि यह देखरेख पुलिस की निगरानी के रूप में नहीं, बल्कि सार्वजनिक व्यक्तियों की एक कमेटी की देख-रेख के रूप में रहती है। कहा गया है कि इन उपायों के फलस्वरूप अपराध घट गया है। (१)

पार्कहार्स्ट जेल

हम बतला चुके हैं कि पार्कहासर्ट में ऐसे लोग रक्खे जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में ख्याल किया जाता है कि वे शायद ही सुधरे, किन्तु इनके अलावा सभी यहूदी बुड्ढे, अपाहिज, मानसिक रूप से त्रुटियुक्त, किन्तु इतना नहीं कि पागल क़रार दिया जा सके, रक्खे जाते हैं।

कैम्पहिल

कैम्पहिल आईल आफ़ वाईट में है। यहांजिस प्रकारलोग रक्खे

(१) *Report of the Jail-Committee 1928-29 and "Criminology" by Horace Wyndham, p. 58*

जाते हैं उसका भी थोड़ा-सा वर्णन कर देना चहिये। पहिली बात इस सम्बन्ध में तो यह है कि यद्यपि यहाँ ताला, जंगला, लालटेन, कोठरी और कारखाना सब जेल ही का सा है, और वहाँ के रहने वालों को जेल की ही तरह जेलर, (*governors*) डाक्टर, जमादार से सबका पड़ता है, किन्तु फिर भी यह दावा किया गया है कि जेलों से यहाँ बर्ताव विभिन्न है। पहिली बात तो यह है कि वे सब साथ (*association*) में रहते हैं दूसरी बात यह है कि यदि वे ढंग पर चलें, तो वे अपनी कमाई में से तम्बाकू, अखबार, और ऊपर से खाने-पीने की चीजें खरीद सकते हैं। दिनके काम को करलेने के बाद वे शतंरज, डोमिनो, ड्रैफ्ट आदि खेल सकते हैं। कैम्पहिल में कोई आदमी दाखिल होते ही, उसे किसी सोपान (*stages*) में दर्ज किया जाता है। जो लोग सब से ऊँचे सोपान में पहुँच जाते हैं उन्हें एक सामान-सहित कमरा, बत्ती और बर्तन आदि दिये जाते हैं। इस अन्तिम सोपान में पहुँचने के लिये साधारण तौर पर दो साल लग जाते हैं। इस सोपान में पहुँचे हुए लोगों को थोड़ी ज़मीन बाग़ बनाने या तरकारी पैदा करने के लिये दी जाती है, इस ज़मीन में जो कुछ पैदा होता है उसे जेल-विभाग उससे खरीद लेता है। इस सोपान में कम से कम देख-रेख रक्खी जाती है, और इस प्रकार समझा जाता है कि उसे बाहरी जगत के लिये तैयार किया जा रहा है। कहा जाता है कि कुछ असफलतायें तो हुई हैं, किन्तु साथ हो दावा किया गया है कि इसमें कुछ जबरदस्त कामयाबियाँ हुई हैं।

अनिश्चित सज़ा

कैम्पहिल में जो लोग आते हैं वे कम से कम तीन साल की कैद (*Penal servitude*) काटने के बाद आते हैं। जब समाज एक

(*I*) *Criminology by Horace Wyndham p. 58*

व्यक्ति को बारबार छोड़कर निराश हो चुका है तो इसकी ज़रूरत क्या है कि एक और क़ैद के लिये प्रतीक्षा की जाय, बल्कि ज्यों ही मालूम हो की वह सामाजिक तरीके से रह नहीं सकता, त्योंही उसे अनिश्चित काल के लिये बन्द क्यों न कर दिया जाय? इसीको *indeterminate sentence* याने अनिश्चित सज़ा कहते हैं, याने समाज जिससे निराश हो चुका है उसे तभी छोड़ा जाय जब यह उम्मीद हो जाय कि वह बहुत संभव है सुधर गया। १९१० के अन्तर्राष्ट्रीय सज़ाविज्ञान (*penitentiary congress*) काग्रेंस में अनिश्चित सज़ा का सिद्धान्त मान लिया जा चुका है। फिर भी अंग्रेज़ी कानून में यह बात मानी नहीं गई। अन्तिम बार जब यह वसूल मनवाने की चेष्टा पार्लियामेन्ट में हुई तो लार्ड गैल्डस्टोन ने जो उस समय गृह-सचिव थे इसका बड़ा जोरदार बिरोध यह कहकर किया कि इसका अर्थ यह होगा कि जिस दुबाड़े से समाज निराश हो चुका है उसके साथ एकबाड़ों के मुक़ाबले में नर्मी का बर्ताव किया जाय (२) क्योंकि जब उन्हें अनिश्चित काल के लिये जेल में रक्खा जायगा तो उसके जीवन को संभव बनाने के लिये कुछ नर्मी भी करनी पड़ेगी। हमें आगे चल कर इस विषय पर रोशनी डालने का और मौक़ा मिलेगा।

बालक-अपराधी

अपराध के साथ हमारी लड़ाई में बाल-अपराधियों (*juvenile criminals*) के साथ किस प्रकार बरता जाय यह एक बहुत बड़ी समस्या है। अपराध को उसके उत्सस्थल में रोकना है तो हमें बाल अपराधियों का विशेष ख्याल रखना पड़ेगा। जो बचपन से अपराधी होते हैं उनको सुधार कर अपराध की राह से हटा कर समाज के साधारण मार्ग पर लगा देना अपराध विज्ञान

(१) *Ibid p, 59*

का सबसे बड़ा काम है। बच्चे का मन बहुत ही कोमल तथा नाजुक हालत में होता है, बहुत कुछ हद तक उसे दूसरी ओर झुकाना संभव है। डाक्टर मार्सियर (*Mercier*) का तो यहाँ तक कहना है कि एकमात्र अपराधी जो सुधर सकता है वह बाल-अपराधी ही है। (१)

बाल-अपराधियों पर क़ानून

१६०८ के *Children Act* के अनुसार *Child* शब्द से १४ से कम उम्र के लड़के या लड़की का बोध होता है, साथ ही १४ से १६ के अन्दर के लड़के तथा लड़की को *young person* कहा गया है। इस क़ानून के अनुसार *child* या बच्चा जेल भेजा ही नहीं जा सकता किन्तु एक *young person* याने नौजवान को जेल भेजा भी जा सकता है। फिर भी नौजवान अपराधी को *penal servitude* लम्बी सजा में नहीं भेजा जा सकता। कहाँ तो मई १८३३ में एक नौ-वर्ष के लड़के को एक मकान में घुसने तथा दो आने का सामान चुराने के लिये फाँसी की सजा हुई थी कहाँ अब यह दृष्टिकोण। १८३८ में सबसे पहिले बाल-अपराधियों की समस्या उठाई गई, और तब उनके लिये पार्कहार्स्ट में एक उपनिवेश(*settlement*) बनाने की योजना बनाई गई जब पहिले-पहल इसकी योजना बनी तो बहुत उत्साह था, किन्तु जब यह कार्यरुप में परिणत हुआ तो देखा गया इसमें जेल सी ही सब बातें हैं। विशेषकर इस उपनिवेश में तब तक कोई बाल अपराधी लिया नहीं जाता था, जब तक उसे आजिवन कालेपानी की सजा न मिली हो। इस प्रकार प्रश्न को आधे दिल से सुलझाने के कारण सुप्रसिद्ध औपन्यासिक चार्लस डिकेन्स ने बड़ा आन्दोलन किया, इस प्रकार १८५४ का *Reformatory Schools Act* पास हुआ।

---

(१) *Ibid, p. 52*)

टाटहिल की जेल

इस ऐक्ट के पास होने के वाद भी हम देखते हैं की येस्टमिनिस्टर अबे के पास ही टाटहिल (*Tothill*) मैदान में लंडन के वाल-अपराधियों के लिये एक जेल क़ायम हुई। यह इमारत क़रीब-क़रीब एक गढ़ था, इस का फाटक बहुत ही लम्बा-चौड़ा था जगलों में लोहे के छड़ लगे हुए थे, दीवारें तगड़ी थीं, साथ ही जमादार पहरा देते थे। जेलों से इसका कोई प्रभेद नहीं था। उसके अन्तर्गतों को वही पुरानी रस्सी का रेशा निकालना, क्रैंक (*crank*) तथा टेडमिल चलाना पड़ता था। हेनरी मेहयू (*Henry Mayew*) ने अपने *Criminal Prisons in London* नामक पुस्तक में लिखा था "इस ज़माने में महज़ बच्चों को जेल के कपड़े पहिने हुए देखकर बड़ा दुःख होता है। कुछ तो इतने छोटे थे कि उनको देखकर यही ज्ञात होता है कि उन्हें एक-एक दाई की ज़रूरत है न कि जेलर की। वेस्टमिनिस्टर की इस जेल के जिस कारखाने में रस्सी के रेशे उधेड़े जाते हैं। उससे बढ़कर दयनिय दृश्य शायद ही लंदन की किसी जगह में हो। इस संस्था का नाम 'सुधार-गृह'(*house of correction*) ज़रूर है, किन्तु यदि सच देखा जाय तो यह अपराध सीखने के स्कूल हैं, जहाँ लड़के पढ़कर मिल-बैंक तथा पेन्टनविल (*Pentonbille*) जेल में इम्तहान पास करने तथा लायक़ होने जाते हैं †।"

बाल-अपराधियों के लिये व्यवस्था

केवल चोरी आदि अपराध में ही नहीं, मकान के किवाड़े झूठमूठ खड़खड़ाने, काँच तोड़ डालने या आम सड़क पर खेलने के कारण भी लड़के इस सुधार-गृह में भेजे जाते थे। १८२१ के एक ऐक्ट के पास होने के बाद से बच्चे-अपराधी औद्योगिक स्कूल में तथा नौजवान-अपराधी रिफार्मेटरी में भेजे जाते हैं। यदि कोई नेकचलनी

† *Ibid*, p.53

से चले तो उसे छूट (*remission*) दी जाती है, किन्तु छूटने के बाद उस पर बहुत कड़ी देखरेख रक्खी जाती है। (१)

बोरस्टाल संस्थायें

इङ्गलैंड में चौदह साल की उम्र तक यदि कोई अपराध करे तो उसे जेल न भेजकर दूसरे तरीके से मौका दिया जाता है, चौदह के बाद जेल की सज़ा हो सकती है, किन्तु सोलह से इक्कीस साल तक के अपराधी को बोरस्टाल संस्थाओं में भेजा जाता है। बोरस्टाल संस्थायें जेल नहीं हैं, बल्कि एक तरह के राष्ट्रीय ट्रेनिङ्ग स्कूल हैं। अक्सर इस संस्था में भेजे जानेवाले लोग नये अपराधी नहीं, बल्कि दुबाड़ा होते हैं। या तो उन पर पहिले जुर्माना हो चुका है, या वे शर्त पर छोड़े गये थे, या रिफार्मेटरी विद्यालय में भेजे गये थे, या एक बार के सज़ायाफ़्ता हैं। सच बात तो यह है कि बोरस्टाल में वे ही भेजे जाते हैं, जिनपर क़ानून का एक वार व्यर्थ जा चुका है। १९०८ के *Prevention of Crimes Act* और १९१४ के *Criminal Justice Administration Act* के अनुसार १६ से २१ साल तक के अपराधी बोरस्टालों में कम से कम दो और अधिक से अधिक तीन साल के लिये भेजे जाते हैं। कुछ लोग जो इनमें भेजे जाते हैं वे पाँच-पाँच दफे के सज़ायाफ़्ता हैं। अधिकांश ऐसे भेजे हुए अपराधी बेईमानी (*dishonesty*) से ताल्लुक रखनेवाले हैं। यदि बोरस्टाल में रहनेवाला नौजवान छै महीने में तथा नवयुवती ३ महीने में ही सुधर जाने के लक्षण दिखलावे तो उसे छोड़ देने का विधान है। छूटने का अर्थ यह नहीं कि वह एक दम आज़ाद कर दिया जाता है, चाहे जहाँ जावे और चाहे जहाँ रहे, बल्कि इसका अर्थ यह है कि वह बोरस्टाल सभाओं की देखरेख में बाहर रहे। यह बोरस्टाल सभायें सरकारी सहायताप्राप्त सार्वजनिक

(१) *Ibid*

संस्थायें हैं, इसलिये इनकी देखरेख में वे त्रुटियाँ नहीं हैं, जो पुलिस की निगरानी में हर देश में पाई जाती हैं। बोरस्टाल संस्थाओं का काम केवल इतना ही नहीं है कि वे यह देखें कि छूटा हुआ नौजवान किस प्रकार चल रहा है, बल्कि उनका काम यह भी है कि वे उसके *friend, philosopher, guide* याने मित्र, दार्शनिक, पथप्रदर्शक बन जाते हैं। यदि उसे अपने अपराधी जीवन से इस कारण छुटकारा नहीं मिल पाता कि लोग उससे घृणा करते हैं, क्योंकि वह सज़ायाफ्ता है, या उसके परिवार तथा वातावरण का उसपर बुरा असर पड़ता है, तो उस हालत में बोरस्टाल संस्थायें उसे दूर ले जाकर और बसाकर नये जीवन के सूत्रपात के लिये सहायता करती हैं। इसी प्रकार यदि वह बेकार है तो उसे नौकरी दिलाने में ये संस्थायें सहायता देती हैं, बल्कि ऐसा करना इन संस्थाओं के कर्तव्यों में से है। यदि इस प्रकार हर तरह का प्रयत्न करने पर भी जब लैसंस पर समय से पहिले छोड़ा हुआ बोरस्टाली नहीं सुधरता, तो उस हालत में उसका लैसंस मंसूख़ कर दिया जाता है।

बोरस्टाल की व्यवस्था

जब कोई नौजवान बोरस्टाल जेल में दाखिल होता है तो वह साधारण सोपान में रक्खा जाता है इसमें उनको अलग-अलग खाना पड़ता है, तफरीह (*Recreational purposes*) के ख़याल से भी मिलने-जुलने नहीं दिया जाता है। इस सोपान से निकलने के बाद मध्यम सोपान में प्रवेश होता है। इसमें नौजवान अपराधी साथ में खाना खा सकता है, और शनि-वार के दिन भर और पूरा रविवार बातचीत कर सकता है, साथ ही वह चाहे तो शतरंज और ड्रैफ्ट्स खेल सकता है। इस सोपान

में तीन महीने तक रहने के बाद नौजवान कैदी मध्यम बी सोपान (*Intermediate B grade*) में रक्खे जाते हैं। इसके बाद वे प्रोबेशनरी सोपान में जाने के हक़दार हो जाते हैं, किन्तु इसमें वे तभी लिये जाते हैं, जब संस्था का बोर्ड उसे पास कर दे। इस सोपान के बाद विशेष सोपान (*Special grade*) आता है, फिर नक्षत्रमार्का विशेष सोपान (*star-special grade*) आता है। सुविधायें बढ़ती ही जाती हैं, जब तक कि वे इस हद तक न पहुँच जायँ कि विद्यालयों की बोर्डिंगों के लड़कों की सुविधाओं के बराबर हो जायँ। बोरस्टाल में बन्द सभी लोगों को औद्योगिक शिक्षा दी जाती है, शारिरिक व्यायाम कराया जाता है, इसके अतिरिक्त उनको मामूली विद्यालयों की तरह पढ़ना लिखना भी पड़ता है। दिन ५ बजकर ४० मिनट पर शुरू होता है, और ६ बजे रात तक चलता है, इस बीच में काम, व्यायाम, पढ़ाई आदि चलती ही रहती है। केवल दुपहर के समय खाने के बाद कुछ देर विश्राम क समय रहता है। कामों में ईंटें बनाना, बढ़ईगिरी, चित्र विद्या, लोहे का काम, फिटरी, खाना पकाना, डबलरोटी बनाना (*baking*), बाग़ का काम, तथा खेती सिखलाई जाती है। तरह तरह की कसरत तथा खेल सिखाये जाते हैं, और विभिन्न विषय पर ज्ञानवर्धक वक्तृतायें भी दी जाती हैं।

बोरस्टालों के क़ैदी

बोरस्टालों के अफ़सर कोई वर्दी नहीं पहिनते, इसके पीछे यह ख्याल है कि जहाँ तक हो सके जेल का वातावरण न हो। एक बोरस्टाल कई गृहों (*houses*) में बँटा होता है, इसलिये इन गृहों पर जो एक-एक अफ़सर होता है वह गृहपति (*Housemaster*) कहलाता है।

बोरस्टालों का सज़ाई वर्ग

इतना करने पर भी बोरस्टालों में नौजवान अपराधियों का एक वर्ग ऐसा होता है, जिसको सज़ाई (*penal*) वर्ग कहते हैं। वे अकेले रहते हैं तथा जेल के कपड़े पहनते हैं। उनको कड़ी से कड़ी मशक़्क़त करनी पड़ती है, यदि और कोई काम न हुआ तो उनसे चक्की पिसाई जाती है, और पत्थर फुड़वाये जाते हैं। (१)

कमउम्र स्त्री-अपराधी

कमउम्र स्त्री-अपराधियों पर भी बोरस्टाल प्रयोग किया गया है, खास करके वे लोग जिनको गंभीर अपराधों के लिये सज़ा मिल चुकी है। एल्सबरी में इसका प्रबन्ध है। इसमें जिन पर प्रयोग किया जाता है उनमें शराबिन और हत्याकारिणियों की संख्या बहुत क़ाफ़ी है। फिर भी जो लड़कियाँ उनमें भेजी जाती है, उनमें बहुत-सी सुधर जाती हैं। केवल कुछ ही फिर से अपराध करती हैं। (२)

बाल-अपराधियों के लिये विशेष अदालत

बाल-अपराधियों के लिये विशेष अदालतों का प्रबन्ध भी इङ्गलैंड में है। पहिले ऐसा होता था कि छोटे बच्चे, लड़के या लड़कियों को गिरफ़्तार कर एकदम पास के थाने में बड़ी उम्र के अपराधियों के साथ बन्द कर दिया जाता था, किन्तु अब जहाँ तक हो सकता है ऐसा होने नहीं दिया जाता है। लड़के-लड़कियों के ऊपर मुक़द्में के लिये जो अदालत होती है, उसमें तमाशबीनों को आने नहीं दिया जाता है। मैजिस्ट्रेट के साथ एक स्त्री-मैजिस्ट्रेट तथा एक स्त्री-प्रोबेशन अफ़सर फैसला करने बैठती है। जो लोग गवाही देने आते

(१) सर लुईस स्टुआर्ट ने १९२८-२९ की जेल कमेटी की रिपोर्ट में बोरस्टाल संस्था का अच्छा वर्णन दिया था।

(२) *Criminology, p. 55.*

हैं, वे यदि पुलिस के भी हुए तो भी वर्दी में नहीं आते। इङ्गलैंड के अलावा और यूरोपीय देशों में भी कमउम्रों पर मुक़द्दमा पर्दे में (*in camera*) चलाया जाता है। (३)

बाल-अपराधी पर समाज का ध्यान नहीं

इतना होने पर भी बाल-अपराधियों पर समाज को जितना ध्यान देना चाहिये उतना नहीं दिया जाता। होरेस विन्डहैम का कहना है कि लड़का या लड़की ज्यों हो विद्यालय से भागने लगे, त्योंही समाज का कर्त्तव्य है कि सतर्क हो जाय। यों तो स्कूल से भागना स्वयं कोई इतने बड़े डर की बात नहीं है, किन्तु जब कोई लगातार स्कूल से आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से ग़ायब रहने लगता है, तो उसे अपने से अधिक उम्रवाले बुरे आदमियों की सोहबत करने की संभावना हो जाती है। पहिले तो वह कुछ मामूली शरारत करता है, फिर शरारत से अपराध की नौबत आती है। उक्त लेखक ने इसके साथ ही यह भी कहा है अक्सर ऐसा होता है कि बहुत छोटे-छोटे अपराधों के लिये जैसे सेब की गाड़ी से एक सेब चुराना, सड़क पर गेंद खेलना या नंगे नहाने के लिये बच्चों को जेलखाना भेजा जाता है; यह बहुत ही ग़लत है। सर जायसन हिक्स ने ऐसे ही मामलों के सम्बन्ध में कहा था "सारी बातों को देखने के बाद हम यह सोचे बगैर नहीं रह सकते कि इनमें से अधिकतर मामलों में अपराधियों को शर्तों पर छोड़कर उन पर अच्छी देखरेख रखना ही क़ाफी होता। हम बाद को मानसिक परीक्षा के सम्बन्ध में आलोचना करते समय बाल-अपराधियों का उल्लेख करेंगे।

अपराध में स्त्री का भाग

सृष्टि के आदिकाल से ही अपराध में पुरुष के साथ स्त्री ने भी

(३) *Ibid.*

भाग लिया है, किन्तु अक्सर वह अपरोक्ष रूप में ही अपराध से संयुक्त होने के कारण, या उसका भाग केवल उत्तेजना देने मात्र का तथा सहायिका का होने के कारण वह अपराध के मामले में उतना जोरों से आगे नहीं आई जितना कि पुरुष आया। यह कहा गया है कि अपराध में स्त्रियों का भाग इसलिए सामने नहीं आता कि गवाह, पुलिस, जज सब एक तरफ से उनके साथ रियायत (*chivalry*) करते हैं। मैं समझता हूँ कि यह रियायत केवल भावुकता पर अवलम्बित नहीं है, बल्कि इसके पीछे वस्तुस्थिति की झलक समाज के विवेक के रूप में है। चाहे प्राच्य देशों में हो, चाहे पाश्चात्य देशों में (एक वर्त्तमान रूस को छोड़कर) स्त्री आर्थिक रूप से पुरुष से स्वतंत्र न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वह जब अपराध करती है तो सोच-विचार कर स्वतंत्र रूप से करती है। इसके साथ ही मैं समझता हूँ स्त्री उतनी ही हद तक समाज की उपज है, जितनी हद तक पुरुष, इसलिए ये दोनों मत, ग़लत हैं एक यह कि स्त्री की ही प्ररोचना से पुरुष अक्सर अपराध करते हैं, तथा दूसरा यह कि स्त्री इतनी अच्छी है कि कोई कुकृत्य कर नहीं सकती। पुरुष स्त्री के प्रभाव में अपराध करता है, स्त्री भी पुरुष के प्रभाव में अपराध करती है, किन्तु चूँकि हमारा समाज इस समय पुरुष प्रधान है, क्योंकि पुरुष ही उपार्जन करने-वाला है, इसलिए इसके मानने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि अधिकांश क्षेत्रों में स्त्री पुरुष के ही सिखाने से अपराध करती है।

हत्या में स्त्रियों का स्थान

कुछ अपराध ऐसे हैं जिनको स्त्रियाँ क़रीब-करीब नहीं करतीं जैसे डकैती, राहजनी आदि ऐसे अपराध जिसमें शारीरिक बल की जरूरत है, हाँ। वे हत्या करती हुई अक्सर पाई गई हैं, अवश्य उनकी की हुई हत्याओं की संख्या बहुत कम है,

अक्सर इसमें उनका तरीक़ा भी वही है जो वे प्रयोग कर सकती हैं जैसे ज़हर दे देना। कुछ लोग इससे यह उपसंहार निकाल बैठे हैं कि स्त्रियाँ रक्त देखना या बहाना स्वाभाविक तौर पर पसन्द नहीं करतीं, इसी कारण वे ऐसा करती हैं, किन्तु मैं समझता हूँ यह एक भावुकता की बात है। स्त्रियाँ इसीलिए तलवार या पिस्तौल इस्तेमाल नहीं करतीं, क्योंकि वे ऐसा कम कर सकती हैं। बहुत संभव है इसी कारण उनकी प्रकृति ऐसी हो गई है कि वे अब रक्त देखना ही नहीं पसन्द करतीं। फिर भी अपने हाथों से न करने पर भी स्त्रियाँ अपने प्रेमिकों के द्वारा अक्सर बहुत ही भयंकर हत्यायें कराती हैं। अपराधविज्ञान की पुस्तकों में, पुलिस तथा अदालत की रिपोर्टों में ऐसी हत्याओं का उल्लेख अक्सर आता है। मिस्टर होरेस विन्डहैम ने एक स्त्री कैथराईन का ज़िक्र किया है, जिसने अपने प्रेमिकों के द्वारा अपने पति की हत्या कराई थी। जब उसका पति प्रेमिकों के द्वारा पीटे जाते-जाते गिर गया तो उसने पहले तो उसके अंग को टुकड़े-टुकड़े कर डाला फिर उसे उबालना चाहा था। थैकरे ने इसी स्त्री के इर्द-गिर्द एक उपन्यास लिखा है। एक स्त्री ब्रौनरिग का भी इस पुस्तक में उल्लेख है जो अपने यहाँ की काम सीखनेवालियों को ज़रा-ज़रा-सी बात पर बिलकुल नंगी करके मारना शुरू करती थी, और मारते-मारते मार डालती थी। †

वैकल्पिक सज़ा (*Conditional Sentence*)

१८८७-में पासशुदा *First Offender's Act* के कारण अब इङ्गलैंड में बहुत से लोग जेल में नहीं भेजे जाते जो पहिले जेल भेजे जाते थे। इङ्गलैंड में यह तरीक़ा फ्रान्स, बेलजियम तथा अमेरिका में पहले ही प्रवर्तित हो चुका था। अपराधी से मुचलका ले लेना तथा उसे यह कह देना कि जभी उसे हुक्म दिया जाय आकर सज़ा सुने, बहुत

† *Criminology, p. 68*

लाभजनक साबित हुआ है। इसीको दूसरे देशों में वैकल्पिक सज़ा पद्धति (*conditional sentence*) कहते हैं, किन्तु कोई अपराध विज्ञान के विद्वानों ने इसका बहुत ज़बर्दस्त विरोध किया है। गारोफालो ने कहा है कि इस प्रकार शर्तों पर छोड़ना तभी उचित होगा जबकि अपराध से जिसको या जिनको हानि पहुँची है, उसकी या उनकी अनुमति प्राप्त कर ली जाय। एनरिको फेरी का मत है कि जिनको अपराध से हानि पहुँची हो उसकी क्षतिपूर्ति होनी चाहिए। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि अपराधी के पास धन न हो तो सरकार क्षतिपूर्ति करे †। इस ख़्याल में बिलकुल ही दम नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। मान लीजिये कि क ने ख से ५००) रु० ठग लिए, अब वह तो प्रथम अपराधी के नाते छूट गया, किन्तु ५००) रु० जाने से वह तो बुड़ गया, उसका क्या होगा? अवश्य ठगनेवाले को यदि दो-दो साल चक्की पीसनी पड़ती तो भी उसे कुछ नहीं मिलता, किन्तु उस हालत में उसको यह सन्तोष मिलता कि बदला मिल गया। जो कुछ भी हो यह स्पष्ट कर देना चहिये कि इस संतोष से सुधार से कोई वास्ता नहीं।

अपराधी के साथ मानवीय व्यवहार

गत चालीस वर्षों में इङ्गलैंड में जेलों की संख्या क़ाफ़ी घटी है। पहिले कहाँ हर साल दो लाख व्यक्ति सज़ा के लिए भेजे जाते थे, किन्तु अब केवल पचास हज़ार व्यक्ति ही भेजे जाते हैं। अब सब तरह से यही कोशिश की जाती है कि अपराधी को जहाँ तक हो सके जेल न भेजा जाय, यदि जेल भेजा गया तो उसके साथ पहिले से कहीं अधिक मानविकता का वर्ताव किया जाय फिर छूटने पर उसको मदद दी जाय, उसको बेकार न रहने दिया जाय, अपराध का पथ छोड़कर दूसरे पथ पर चलाया जाय

† *Ibid.*

अपराधी को इस प्रकार बाहर रखने से सरकार तथा करदाताओं को फायदा है, क्योंकि तखमीना लगाया गया है † कि एक कैदी को जेल में रखने के लिए इङ्गलैंड की सरकार को सालाना ६५ पौंड याने कोई ७०० रु० का खर्च पड़ता है। सरकार के इस काम में बहुत-सी स्त्रियों तथा पुरुषों की संस्थायें हाथ बटाती हैं। ऐसी संस्थाओं में हावर्ड लीग सबसे प्रमुख है। इन्हीं संस्थाओं के उद्योगों के कारण अपराधी के प्रति व्यवहार-सम्बन्धी दृष्टिकोण में बहुत अन्तर पड़ा है। वयस्कों के लिये सुधारगृहों, बाल-अपराधियों के लिये पृथक अदालतों तथा जेल-अनुशासन की सख्तियों को घटाने में ये सफल रहे, किन्तु अब भी ये इन बातों के लिये आन्दोलन कर रहे हैं (क) प्रोबेशन या शर्त पर छोड़े जाने का और विस्तार हो, (ख) पुलिस की अदालतों (*Police-court*) में उन लोगों को मुफ्त में वकील की सलाह दी जाय जिनको इसकी जरूरत हो, (ग) कुछ भी सन्देह होने पर मानसिक परीक्षा की जाय, (घ) फाँसी की सजा हटा दी जाय, इत्यादि।

जेलों के स्वास्थ्य में तरक्की

इङ्गलैन्ड में पहिले जेलों का स्वास्थ्य इतना खराब था कि बेकन ने कहा था "जेल की गंध ताऊन से कुछ ही कम भयंकर है।" जेलों का यह हाल था कि एक प्रकार का ज्वर वहाँ फैला ही रहता था, जिसको जेल का बुखार ही कहा जाता है। यह बुखार जेल के बाहर भी फैला हुआ था। १५७७ में आक्सफोर्ड के (*Assizes*) की अदालत के सिलसिले में कैदियों के साथ संस्पर्श में आने के कारण क़रीब-क़रीब सभी जज, वकील और गवाह मर गये। दो सौ साल तक जेलों की हालत यह थी कि न्यूगेट में बड़े जोर की

† *Horace Wyndham*

महामारी वहीं की जेल से फैली और लार्ड मेयर, कुछ अल्डरमेन, दो जज, और कुछ दर्शक जेल की बीमारी से मर गये। फिर कुछ-कुछ चेष्टा इस बातकी की जाने लगी कि जेल का स्वास्थ्य ठीक रहे। (१) अब तो जेल का स्वास्थ्य ऐसा रक्खा जाता है कि बाहर से अच्छा रहे। जेल में दाखिल होते ही बाक़ायदा प्रत्येक कैदी की डाक्टरी जाँच की जाती है, यदि रोगी हुआ तो उसका सबसे पहिले इलाज किया जाता है, फिर जब वह सम्पूर्णरूप से साधारण हो जाता है तभी उसे सबसे मिलने दिया जाता है।

जेल में सख्ती, प्रलोभन, चरित्र

पहिले की यह धारणा कि सज़ा जितनी ही सख्त होगी, उतनी ही जल्दी आदमी सुधरेगा झूठी प्रमाणित हो चुकी है। इसी कारण जेल के सम्बन्ध में जो *Hard labour, hard fare, and a hard bed* याने कड़ी मशक्क़त, रुखा खाना और रूखे बिछौने का नारा जाता रहा। कोई इसमें विश्वास नहीं करता। एक व्यक्ति कष्ट सहकर या कष्ट के कारण यदि मन ही मन प्रतिज्ञा भी कर ले कि वह आगे कभी भी फलाना काम नहीं करेगा, तो भी वह उसे रख ही सकेगा, चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ आवें, यह कैसे कहा जा सकता है? क्या मनुष्य हमेशा असामाजिक आचरण जानबूझकर या अच्छी तरह सोच-समझकर ही करता है? होरेस विन्डहैम के मत में सारे अपराध विज्ञान का निचोड़ यह है, "बुरे काम के कारणों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है (१) आन्तरिक, (२) बाह्य। आन्तरिक कारणों में उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त सहजात बुद्धि (*hereditary instinct*) के साथ-साथ व्यक्ति की मनोवृत्ति (*mentality*) है, और बाह्य कारणों में सुविधा (*opportunity*) के साथ-साथ प्रलो-

(१) *Ibid.*

भन भी आ जाता है। ईसाई शास्त्रों में बार बार यही प्रार्थना आती है कि हम प्रलोभन से दूर रहें। मालूम होता है कि इन शास्त्रकारों ने यह बात भुला दी कि प्रलोभन एक प्रकार की परिस्थिति मात्र है। प्रलोभन एक दार्शनिक या धार्मिक विचार है किन्तु परिस्थिति सम्पूर्ण रूप से आर्थिक सामजिक रूप से समझ में आनेवाला विचार है। प्रलोभन के अलावा स्वभाव भी एक अलग वस्तु बतलाया गया किन्तु यह भी परिस्थिति की उपज है। प्रलोभन तात्कालिक परिस्थिति है किन्तु स्वभाव अनन्त परिस्थितियों की उपज है। फिर भी अक्सर अपराध इन दोनों में याने प्रलोभन और चरित्र में पारस्परिक संघर्ष या प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है। हम लोगों में हरेक का एक विन्दु है जिसके बाद हम चरित्र और प्रलोभन के संघर्ष को बर्दाश्त नहीं कर सकते। वहाँ हमारा चरित्र अवश्य ही टें बोल जायगा। रिचार्ड बाक्सटर ने एक अपराधी को बँधी हुई हालत में जाते हुए कहा था मैं भी उसी की जगह होता, यदि ईश्वर की दया न होती।" यह बात बिलकुल ठीक थी।

सख्ती से सुधार !

ऊपर जो कुछ अपराध के बाह्य और आन्तरिक कारण के सम्बन्ध में कहा गया है उसके आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह विश्लेषण मौलिक नहीं बल्कि शाखागत है। सवाल तो मौलिक यह है कि ये आन्तरिक तथा बाह्य कारणों के मूल में क्या है। हमें केवल यहां इतना बताना है कि कैदी पर अधिक से अधिक सख्ती करने से ये मौलिक कारण हट नहीं सकते बल्कि बहुत संभव है कि वह आदमी और भी खराब हो जाय। मनुष्य कोई इस्पात नहीं है कि जितनी ही उस पर सख्ती की जाय, वह उतना ही बर्दाश्त करता जायगा, और पोढ़ा होता जायगा। एक सीमा है जिसके बाद सख्ती करने से व्यक्ति की सारी पद्धति ही लालटेन की एक

चिमनी की तरह चूरचूर हो जाती है और स्मरण रहे हरेक क्षेत्र में यह सीमा की रेखा विभिन्न जगह पर होती है। यदि बदला लेना ही हमारा उद्देश्य है, तथा यदि कैन्टीय सज़ा-सम्बन्धी परिमाण और गुणगत सिद्धान्त (*Kant's qualititative and quantititative principle of punishment*) को ही हम फलीभूत देखना चाहते हैं तब तो हम यह कह सकते हैं कि "इस व्यक्ति ने जो अपराध किया है, उसकी बेरहमी का दर्जा इतना है, इसलिये उसे उतनी बेरहमी अवश्य सहनी पड़ेगी, चाहे वह उसे सहने के बाद आपे में (*normal*) रहे, या सिड़िया जाय इससे कोई मतलब नहीं "तब तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि यह उद्देश्य है कि सज़ा या सख्ती को सुधारने में सहायक बनाया जाय, तब इसका पता लगाकर तब आगे हमें बढ़ना पड़ेगा कि अमुक व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी सख्ती सह सकता है। उस हालत में हमारी निगाह अपराध की ओर नहीं, अपराधी की ओर होगी, और हम उसीको दृष्टि में रखकर अपनी सारी कार्य-पद्धति का निर्णय करेंगे। अपराध से अप-अपराधी की ओर दृष्टि जाना ही आधुनिक अपराधविज्ञान की विशेषता समझी जाती है। किन्तु अपराधविज्ञान रूस में इससे भी एक क़दम आगे बढ़कर अपनी तर्कगत सीमा तक पहुँच गया है, इसलिये अपराधी पर निगाह के साथ-साथ, बल्कि उससे भी कहीं अधिक उनकी निगाह समाज के ऊपर गया है जिसमें वह अपराधी पैदा होता है।

जेल में सामाजिक वृत्तियों को उत्तेजना देने की चेष्टा

इन्हीं विचारों के अनुसार कई प्रयोग किये गये हैं। कहा गया है (१) कि सामाजिक संगठन का सच्चा उद्देश्य यह है कि वर्त्तमान की तृप्ति पर वृहत्तर भविष्य तृप्ति को तरजीह दी जाय,

(1) *Prison as retribution by Dr. H. Smith, p. 81.*

किन्तु अपराधी उस श्रेणी का होता है जो इस मात को समझने से इनकार करता है, न केवल यह, वह अपनी भलाई के आगे किसी की समझता ही नहीं समाज में रहने के लिये जो छोटी-छोटी कुर्बानियाँ तथा समझौतों की जरूरत है, वह उनको नहीं कर पाता। जो स्वभाव से अपराधी होता है, उसकी यह एक विशेषता होती है कि मिहनत करने के बनिस्बत वह धोखा-धड़ी या छीना-झपटी से काम निकालना चाहता है। इसलिये सामाजिक वृत्तियों को जाग्रत करने के लिये जेलों में कहीं-कहीं नम्बर देने की पद्धति (*mark system*) बरती गई है, इसमें कैदी को जेल के अन्दर नेकचलनी तथा श्रमसीलता दिखाने पर नम्बर दिये जाते हैं। कैदी जितने अधिक नम्बर पाता है उतनी ही छूट (*remission*) उसे मिलती है, साथ ही उसे जेल में कुछ और सुविधायें दी जाती हैं। इस प्रकार की पद्धतियों के विरुद्ध कहा गया है जेल की नेकचलनी कोई इस बात का प्रमाण नहीं कि एक व्यक्ति बाहर क्या करेगा क्योंकि जेल में दबाव तथा सजा के भय के कारण कैदी अपने असली स्वरूप को दबाए पड़ा रहता है, दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति जेल के क़ानून को बचा कर चल सकता है, चाहे वह जेल के क़ानूनों को रोज तोड़ता रहे। जेल के सम्बन्ध में कुछ भी जाननेवाले व्यक्ति जानते हैं कि दूसरी बात कितनी सरल है। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि चाहे एक व्यक्ति किसी काम को नियमपूर्वक दबाव से ही करे, आदत-आदत ही है, जब एक बात आदत हो जाती है तो उसे छोड़ना कठिन होता है। उदाहरण के तौर पर एक बात ली जाय। मान लीजिए कि एक आदमी हमेशा दो-तीन घन्टे देर में सोकर नौ बजे उठता है, किन्तु दबाव के कारण उसे रोज सबेरे उठना पड़ता है तथा ऐसा दबाव उस पर तीन वर्ष रहता है, तो इसकी बहुत उम्मीद है कि यह उसकी आदत में शामिल हो जाय,

और दबाव हट जाने पर भी वह इस आदत को क़ायम रक्खे। इसी प्रकार मिहनत करने की आदत, तथा क़ानून के अन्दर अनुशासन में चलने की आदत पैदा की जा सकती है।

बर्मिंघम जेल में सामाजिक-वृत्ति का उत्तेजक प्रयोग

१८४६–५१ में बर्मिंघम बरो जेल में एक दिलचस्प प्रयोग किया गया था, कैप्टेन अलेक्जन्डर मैकोनोम्चि (*Alexander Maconochie*) की ही देखरेख में यह प्रयोग हुआ था। इनको आस्ट्रेलिया के अपराधियों के उपनिवेश का तजर्बा था। इन्होंने आठ-आठ कैदियों का एक-एक दल बना दिया, और इन आठ आदमियों को जो नम्बर दिए जाते थे उनको साथ में गिना जाता था, और उसके अनुसार उनके साथ व्यवहार होता था।† इसका नतीजा यह होता था कि उन आठ कैदियों में जो असामाजिक होता था, उस पर दूसरे-दूसरे सात साथी दबाव डालते थे, साथ ही मदद करते थे कि वह ठीक-ठीक चल सके। यदि वह कैदी फिर भी ठीक नहीं चलता था, तो सातों कैदी और अधिक दबाव डालते थे, या वे चाहते थे कि वह उस गिरोह से निकाल दिया जाय, जिससे कि उसकी वजह से जो औरों को नुक़सान होता था वह न हो और सबका नम्बर बढ़े। ऐसी हालत में उस असामाजिक व्यक्ति को अपनी चाल-चलन सुधारनी पड़ती थी, क्योंकि एक दल से निकाल दिए जाने पर दूसरा कोई दल उसको लेने को तैयार नहीं होता था। इससे साफ है कि उसकी परिस्थिति अजीब हो जाती थी। हैवलक इलिस ने लिखा है कि उस्टयएफस्कि का कहना है कि यद्यपि चोर बदमाश समाज के नैतिक मानदंड की ज़रा भी परवाह नहीं करते, किन्तु स्वयं उनका एक कम से कम मानदंड इस मामले में आपस में होता है जिसकी वे कुछ त्याग सहकर भी रक्षा करते हैं। कहना न

---

† *Prisons by Dr. H. S. Smith.*

होगा कि इस 'मानदंड को विस्तृततर बना सकने में ही हमारी सफलता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह प्रयोग बहुत ही सुन्दर था।

रूस में प्रयोग

डा० स्मित ने सोवियट रूस में पुराने अपराधियों या दुबाड़ों को लेकर किये जानेवाले एक प्रयोग का जिक्र किया है। 'मास्को के पास बालशेवो नामक स्थान में एक *labour commune* या श्रम-पंचायत की स्थापना की गई है। इस उपनिवेश में केवल वे ही लोग भर्ती किये जाते हैं जो तीन बार सजायाफ्ता हों। ऐसे लोग या तो स्वय भर्ती होने की दरख्वास्त देते हैं या परिदर्शक कमेटी उन्हें भेजती है। इस उपनिवेश में (क) करीब २००० अपराधी रहते हैं, जिनमें से कुछ अपनी सजा खतम कर चुके हैं, (ख) अपराधियों के की ५०० स्त्रियाँ और ३०० बच्चे तथा (ग) पाँच शिक्षक तथा कारखाने मैनेजर और डाक्टर रहते हैं। अपराधियों में से कुछ तो पहिले के ही विवाहित हैं, और कुछ उपनिवेश में आने के बाद अनुमति प्राप्त कर विवाह करते हैं। यह उपनिवेश एक कारखाने के इर्द-गिर्द बसा हुआ है, और उपनिवाशवाले इसीमें काम करते हैं। उपनिवेश का सारा कारोबार औपनिवेशिकों की एक कार्यकारिणी कमेटी की देखरेख में रहता है। यह कमेटी सार्वजनिक वोट से चुनी हुई होती है। औपनिवेशिक लोगों में से कोई भी जब चाहे तब उपनिवेश छोड़कर चल दे सकता है, किन्तु एकदफे निकल जाने पर फिर वह नहीं आ सकता, और जो सजा उनकी बाक़ी रह गई है, उसे एक मामूली जेल में काटनी पड़ती है। यदि वह उपनिवेश में अपनी पूरी सजा काट ले, तो अक्सर ऐसा होता है कि तुरन्त बाद ही वे छोड़कर नहीं चले जाते, बल्कि तब तक प्रतीक्षा करते हैं जब तक कि कार्यकारिणी की कमेटी यह कह दे कि अब वे सम्मान के साथ छूटने के लायक़

हुए हैं, और पूरी नागरिकता को प्राप्त कर सकते हैं। कहा जाता है कि उन लोगों की संख्या जो इस प्रकार सिफारिश प्राप्त करने के पहिले ही उपनिवेश से निकल जाते हैं कम है, और किसी भी हालत में अट्ठारह फी सदी से अधिक नहीं है। अवश्य इसका अर्थ यह नहीं कि ये अट्ठारहो फी सदा फिर से अपराध का मार्ग अवलम्बन करते हैं। इस उपनिवेश में जितनी जगह है उससे कहीं ज्यादा दरख्वास्तें आती रहती हैं, किन्तु वैसी हालत में जगह बढ़ाने में कुछ कठिनाई नहीं होती। रूस में इसी प्रकार की संस्थायें दिन बदिन बढ़ती जा रही हैं, और जेलें पीछे रह जा रही हैं। दूसरे देशों में भी ऐसा योजना तथा संस्थाओं की खास जरूरत है। रूस में बेकारी क़तई न होने के कारण वहाँ उपनिवेश से चले जाने के गाद बेकारी का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ समाज का यह कर्त्तव्य है कि जेल से रिहाई के बाद कैदी को ऐसी परिस्थित में पड़ने ही न दिया जाय कि वह फिर मजबूरन अपराध पर आमादा हो।'†

रूसी जेलों में स्वायत्तशासन

रूस में जो जेलें हैं उनमें स्वायत्त-शासन (*self-government*) के ही ज़रिये से कैदियों को सुधारने की चेष्टा की जाती है, और सच पूछा जाय तो केवल वहीं एक अपराधी से बदला लेने की चेष्टा न कर उसे सुधारने की चेष्टा की जाती है। कैदी अपना अखबार निकालते हैं, अपना इन्तजाम करते हैं, कामचोरों को बुरा समझते हैं, इस प्रकार वहाँ अफसर उनके सहायक होते हैं न कि उनको सतानेवाले। सोवियट रूस के अपराध का सिद्धान्त ही एसा है कि अपराधी के सिर पर सारा दोष न जाकर समाज पर ही जाता है, इस कारण उनका दृष्टिकोण अपराधी के व्यक्तित्व के लिए उतना लज्जाजनक नहीं होता। अपराधी वैसा ही अनुभव करता है जैसे

---

†*Prisons by Dr. Smith, p. 140.*

किसी छूतवाली बीमारी से पीड़ित अपने को समझता है। बीमारी बातावरण में मौजूद थी वह कमज़ोर था, या बीमारी के वह बहुत क़रीब था इसलिये उसे लग गई, किन्तु समाज इस बात के लिये अपने को ज़िम्मेदार समझता है कि वह बीमारी क्यों अपना काम कर पाई, क्यों वह कमज़ोर था, इत्यादि। हाँ, अब जबकि उसे बीमारी लग चुकी है, उसका इलाज किया जाना चाहिये, और इसके लिये उसको ज़रूरत पड़ने पर समाज से अलग कर दिया जाना, तथा खाने, पीने, ओढ़ने, पहिनने, घूमने, फिरने की सख्ती की जानी चाहिये। जैसे ताऊन का बीमार अच्छे हो जाने पर साधारण तरीके से साधारण आदमियों में फिरता है उसी प्रकार एक छूटा हुआ अपराधी समाज में पहिले की तरह फिर सके इस प्रकार से वहाँ का जनमत धीरे धीरे संगठित हो रहा है।

Pecule या *gratuity* पद्धति

रूस ने जिस साहस से जिस हद तक जेल के अन्दर तथा बाहर स्वायत्त-शासन का प्रयोग किया है, उस हद तक तो किसी भी देश में इस सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया गया, किन्तु कुछ डरते-डरते प्रयोग इधर-उधर भी हुए हैं। जेल के काम में कैदी को कोई दिलचस्पी नहीं होती, इसलिये उसमें दिलचस्पी पैदा करने के लिये उसके किये हुए काम की मज़दूरी से उसे एक भाग देने का कई देश में विधान बना। १८३१ में आर्चविशप ह्वाटले ने यह कहा कि कैदी को अपने किए हुए कामकी मज़दूरी का कुछ हिस्सा मिलना चाहिए। इसीको *pecule system* या *gratuity* कहते हैं। कहीं इसका कुछ हिसाब, कहीं कुछ हिसाब था। १८७७ में इगलैंड की कुछ जेलों में यह प्रथा प्रचलित थी, समझा जाता था कि कैदी को उसकी कमाई का आधा

दिया जाता था। १८७७ के बाद यह प्रथा बन्द कर दी गई, किन्तु १६१३ तक कुछ न कुछ पैसे इनाम के तौर पर ही सही कैदी को देना जारी रहा। न्यूज़ीलैंड में प्रोबेशन सोपान (*grade*) पार करने के बाद जब तीन महीने कर चुके होते हैं, तब कैदी मज़दूरी पा सकता है। इस योजना से कैदी केवल अपने लिए ही नहीं अपने परिवारवालों के लिए कमा सकता है। फ्रान्स में जब किसीको एक साल से अधिक सश्रम कारादन्ड (*R.I.*) होता है तो वह जेल में कामकर कमा सकता है! फ्रान्स में कैदियों की मिहनत को स्वतंत्र व्यक्तियों की मिहनत से कुछ सस्ते में, ठेकेदार को ठेके में दे दी जाती है, इस कमाई का जो हिस्सा कैदियों को मिलता है, उसमें से कुछ वे अपनी सुविधाओं में खर्च कर सकते हैं, बाक़ी जमा रहता है जो छूटने के समय उन्हें दे दिया जाता है। अमेरिका के कुछ राष्ट्रों में यह प्रथा प्रचलित है। यह ठीक ही मालूम देता है कि अपराधी के परिवार के भरणपोषण की कुछ व्यवस्था होनी चाहिये।

जेल में इकरसता को दूर किया जाय

क़ैद यदि की ही जाय तो यह आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके क़ैदी के साथ उसके परिवार का सम्बन्ध बनाये रक्खा जाय। क़ैदी ज्योंही दीवार से घिरी जेल में प्रवेश करता है, त्योंही उसके दिल में एक असहायता का भाव पैदा होता है। चाहे उसको जेल में कितना ही आराम मिले, किन्तु इस भाव से छुटकारा पाना कठिन होता है। जेल एक ऐसा स्थान है, जहाँ सभी उससे अपरिचित हैं, इसलिये धीरे-धीरे यह धारणा उसके दिल में घर कर जाती है कि वर्त्तमान ही सब कुछ है। भूतकाल उसके लिये स्वप्न हो जाता है, और भविष्यकाल इतना दूर मालूम होता है कि उसका अस्तित्व उसके निकट रह ही नहीं जाता। बड़ी मीयाद की क़ैद में ही ऐसा

होता है यह बात नहीं, छोटी से छोटी मीयाद के कैदी का जेल में घुसते ही यही हाल हो जाता है। इस मानसिक अवस्था से बदले की इच्छा भले ही तृप्त होती हो, किन्तु एक हद तक ही मनुष्य इसे बर्दाश्त कर सकता है, नतीजा यह होता है कि इस असहायता से क्षुब्ध तथा इकरसता से परेशान होकर कैदी की इच्छाशक्ति क्षीण तथा बुद्धि मन्द पड़ जाती है यद्यपि राजनैतिक अपराधी साधारण अर्थ में अपराधी नहीं हैं, फिर भी उन पर भी जेल का यह असर पड़े बिना नहीं रहता। इस असर के कारण ही इतनी आसानी से बहुत से लोग माफी माँग लेते हैं, तथा अपने साथियों को शत्रु के हाथों सौंप देते हैं। फिर उन अपराधियों का क्या कहना जो बिलकुल ही स्वार्थ-वश जेल जाते हैं, और जिनमें कोई भी आदर्श नहीं है?

सुधार के उपाय के रूप में बेलजियम की पद्धति

पहिले यह विचार था कि कैदी को जेल में अधिक से अधिक अकेला रक्खा जाय, बोलने न दिया जाय, हर प्रकार की सख्ती की जाय, किन्तु अब यह बिचार चला जा रहा है, बेलजियम में कैदी पर सबसे अधिक सख्ती की जाती थी, और वह सख्ती उसके अकेले रखने तथा किसीसे न बोलने देने का रूप धारण करती थी। कैदी हमेशा कोठरी में रक्खा जाता था, यहाँ तक कि जब वह प्रर्थनागृह या व्यायामशाला में भी ले जाया जाता था, तो उसके चेहरे पर नक़ाब डाल दिया जाता था, मोसिये द्य तोकविये (*Dr. Tockeville*) ने कहा है *"Si le systeme n'ameliore pas, il ne rend pas, du moins, plus mauvais"* याने यदि कोठरियों में रखने के तरीके से अच्छाई नहीं पैदा होती, तो कम से कम बुराई भी नहीं पैदा होती।† मोसिये लेवेल (*Leveille*) तो इससे आगे बढ़ गये, उन्होंने १८६५ में अपराधविज्ञान की कांग्रेस में

†*Indien jail Committee Report, 1919-20, p. 96.*

कहा था "*Il moralise par l'ennui*" याने एकान्तता की परेशानी से आदमी नैतिक बनता है। यह कितनी बड़ी ग़लती है हम बाद को बतलायेंगे, आधुनिक मनोविज्ञान ने इस धारणा पर बिलकुल चूना फेर दिया है। फिर भी अभी तक कोठरी-पद्धति के पक्ष भक्त बहुत से मौजूद हैं। सर एवेलिन रग्लसब्रिस ने लिखा है "जो व्यक्ति अपराधविज्ञान में दम भरे, वह कम से कम कोठरी-पद्धित के हित के सम्बन्ध में प्रश्न न करे।" १६०० की अन्तर्राष्ट्रीय जेल -कांग्रेस ने प्रस्ताव किया था "कोठरी-पद्धति के सम्बन्ध में जो प्रयोग बेलजियम में किये गये हैं, उनसे पता चलता है कि यदि कैदी के स्वास्थ्य का ठीक-ठीक डाक्टरी देखरेख रक्खी जाय तो दूसरी पद्धतियों के मुक़ाबले में कोठरी-पद्धति में स्वास्थ्य पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता।" (❀) किन्तु यह सभी बातें अटकलपच्चू हैं। असली बात तो यों है कि बेलजियम की जेलों से कैदी कोठरी में अधिक दिन तक रहने के कारण जीवनीशक्तिहीन, मौन के कारण दिल बैठा हुआ, तथा इकरसता के कारण पतित (*devitalised by cell-confinement, depressed by silence and demoralised by monotony*) होकर निकलता था। इसका नतीजा यह हुआ कि जेल में इतनी सख्ती होने पर भी बेलजियम में अपराध बढ़ता ही गया। (†)

कोठरी पद्धति पर आलोचना

यह कहा जाता है कि कोठरी पद्धति अच्छी है क्योंकि उसमें अप्राकृतिक व्यभिचार की गुँजाइश नहीं रहती, यह बात ठीक है, किन्तु कोठरी में यदि अप्राकृतिक व्यभिचार नहीं हो सकता तो वह

हस्तक्रिया (*auto-erotism*) के लिये आदर्श स्थान है। फिर भी कोठरी-पद्धति के हामी इसमें तीन गुण बतलाते हैं कि—

(१) यह कठिनतर सज़ा है

(२) यह मानसिक पतन को फैलने नहीं देती

(३) यह अप्राकृतिक व्यभिचार असंभव कर देती है।

कोठरी-पद्धति का विरुद्ध पक्ष

इस पद्धति के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है; हफ़्तों, महीनों तथा सालों तक उसे अकेले रखना एक बहुत ही बड़ा अत्याचार है। प्रश्न केवल यह नहीं है कि यह अत्याचार उस पर किया जाना चाहिये या नहीं, बल्कि प्रश्न यों है कि उसको इस प्रकार लगातार अकेले रखने से उसके मानसिक भारसाम्य (*equilibrium*) में गड़बड़ी होने की जो संभावना है, तथा इस प्रकार यह जो ख़तरा है कि वह छूटकर पहिले से समाज का कहीं निकृष्टतर सदस्य होगा, उसके लिये हम तैयार हैं या नहीं? मिस्टर टामस होमस ने जिनको लंडन की पुलिस अदालतों का तजर्बा था इस प्रश्न पर रोशनी डालते हुए लिखा था❀ "क्या बात है कि कुछ दिनों तक जेल में रहने से ही मनुष्य के चेहरे पर की छाप बदल जाती है? क्या कारण है कि उसका स्वर अप्राकृतिक और कर्कश हो जाता है? क्या वजह है कि जेल से लौटने पर उसकी आँखें बदलनेवाली, (*shifty*), धूर्त तथा खूँख़्वार हो जाती हैं? इसका कारण यह नहीं है कि जेल में उस पर मशक्कत अधिक पड़ी है, बल्कि इस आत्मा तथा मन को हनन करनेवाली पद्धति ने ही उसका यह हाल किया है।"

❀ *Quoted in I.J.C. 1919-20 from "London Police Courts by Mr. Thomas Holmes.*

कोठरी में लगातार रहने से दिमाग़ में खलल

मैं अपने जेल-जीवन के दीर्घ तजर्बे से इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि दिन-रात कोठरी में रक्खे जाने से कैदी के दिमाग़ में फ़र्क़ आता है। ऊपरी तरीके से वह चाहे स्वस्थ बना रहे, तथा उसका वज़न क़ायम रहे, यहाँ तक कि बढ़े, तो भी यह कहना उचित न होगा कि उसका मानसिक स्वास्थ्य ठीक है। कुछ दिनों तक लगातार कोठरी में रहने के बाद वाक़ई कैदी का स्वर कर्कश और अस्वाभाविक, आँखें कुछ-कुछ पागलों की तरह बदलनेवाली हो जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मानसिक स्वास्थ्य के लिये कोठरी में लगातार बन्द रखना बेत लगाने से कहीं ख़राब है। मैंने बहुत से ऐसे बदमाशों को जो बेत से वश में नहीं आते लगातार कोठरी में रक्खे जाने पर अनुशासन मानने को तैयार होते देखा है, किन्तु जब वे कोठरी में रहते-रहते इस अवस्था को पहुँच चुके हैं उसके बाद उन्हें कोठरी में रखने से ख़राबी ही हुई है। उस पर फिर कोई सज़ा का असर नहीं हो सकता। इससे यदि कोई यह मतलब निकालने की कोशिश करे कि एक कैदी को कम से कम तब तक कोठरी में रक्खा जाय, जब तक वह अपनी ग़लती के लिए पश्चात्ताप न करे तो यह बात ग़लत होगी, क्योंकि कुछ ऐसे टाइप भी होते हैं जो एक झूठी वीरता की धारणा के कारण पागल हो जायेंगे, किन्तु ग़लती स्वीकार न करेंगे। दूसरी तरफ़ ग़लती पर पश्चात्ताप करना कोठरी से निकलने की शर्त बना दिये जाने पर यह डर होगा कि कैदी बहुत ही जल्दी ग़लती स्वीकारकर माफी माँग लेगा। उस हालत में यदि कोठरी सज़ा के अन्तर्गत है तो उसका उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा। कैदी अपनी सहन-शक्ति की हद तक बिना पहुँचे ही एक महज़ रिवाज के तौर पर (*formality*) ग़लती पर अफ़सोस कर देगा। इसलिये यदि कोठरी-पद्धति को सज़ा के तौर पर इस्तेमाल करना है तो किसी

तरीके से स्वतन्त्र रूप में यह पता लगाना पड़ेगा कि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग अधिक से अधिक कितने दिनों तक अपने दिमाग़ को नुक़सान न पहुँचाकर कोठरी में रह सकता है।

सभी साज़ायें अन्तिम तौर शारीरिक

यह कहा गया है कि अन्तिम तौर पर सभी सज़ायें शारीरिक सज़ा हैं। डा० हैम्बलिन स्मिथ ने लिखा है "क़ानून केवल समाज का इत्याकार एक मत नहीं है कि यह ठीक है, और वह ठीक नहीं, बल्कि इसके साथ ही उसमें यह भी है कि कोई ऐसा न करेगा तो उसके साथ ऐसा किया जायगा। इस प्रकार समाज की वर्त्तमान पद्धति में एक क़ानून को न मानने पर समाज की ओर से न माननेवाले के साथ जो किया जाता है उसमें हमेशा परोक्ष या अपरोक्ष रूप से शारीरिक कष्ट मौजूद रहता है। इस प्रकार जेल में भेजना भी अन्तिम रूप से शारीरिक सज़ा है (*and imprisonment is ultimately corporal punishment*) यद्यपि साधारण तौर पर हम बेत आदि मारने को ही शारीरिक सज़ा समझते हैं।" ✽ इस दृष्टि से देखें तो कोठरी की सज़ा भी शारीरिक सज़ा है, क्योंकि वह जेल है, और साथ ही और भी बहुत कुछ। मैं पहिले ही कह चुका कि बहुत से लोगों के मामलों में यह देखा गया कि कोठरी बेत से कहीं सख्त साबित होती है। हमें इसमें कोई सन्देह नहीं कि भविष्य में यदि जेल की सज़ा रही तो वह अधिकाधिक कोठरी में बन्द रक्खे जाने का रूप लेगी, किन्तु जैसा कि मैं कह चुका यह सज़ा उस व्यक्ति की इस सम्बन्धी सहन-शक्ति की सीमा के अन्दर ही व्यवहृत हो सकती है।

✽ *Prisons, p. 95.*

क्या कोठरी से मानसिक पतन रुकता है ?

ऊपर जो कुछ कहा गया उसमें कोठरी-पद्धति के पक्षपाती जो कुछ उसके पक्ष में कहते हैं, उसकी पहिली बात पर विचार आ गया। दूसरी बात जो यह कही जाती है कि कोठरी-पद्धति मानसिक पतन को फैलने नहीं देती याने कोठरी-पद्धति में एक चोर एक डकैत के तजुर्बे को सुनकर डकैत बनने का या और हमलावर चोर होने का मौक़ा नहीं पाता, यह कहाँ तक ठीक है इस पर विचार करना है। सबसे पहिले तो यह बता देना जरूरी है कि एक दूसरे से मानसिक संक्रमण (*infection*) कितना ही जबर्दस्त हो, उससे कहीं खराब समाज के लिये यह बात है कि कैदी की इच्छा-शक्ति ही लुप्त हो जाय, उसके मन की इमारत चूर-चूर हो जाय, और उसके अन्दर का वह आधार ही लुप्त या बुरी तरह विध्वस्त हो जाय जिसको अवलम्बन करके ही किसी प्रकार के सुधार का कार्य-क्रम कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है।

कैदी को खेल आदि देकर बातचीत के विषय दिये जायँ

यह तो स्वाभाविक है कि यदि दो कैदी बैठेंगे तो आपस में पहिले प्रश्न यही होंगे, (क) कितनी सज़ा है, (ख) कहाँ के हो, (ग) क्या जुर्म था (घ) किया था या नहीं ? इत्यादि। इसको हम रोक नहीं सकते, सच बात तो यह है रोकना नहीं चाहते, रोकना बुरा होगा। आखिर कैदी कैद की, जुर्म की, अदालत की, पुलिस की, जेल की बात नहीं करेंगे, तो काहे की बात करेंगे ? क्या स्कूली स्कूल की, रेल कर्मचारी रेल की, पुलिस मुजरिम की बात नहीं करते, फिर यह क्या वजह है कि हम कैदी को उनके लिये स्वाभाविक जो बात चीत करने से रोकें ? फिर प्रश्न उत्पन्न होता है तो क्या हम कैदी

को दिन-रात अपराध की कहानियों की आबोहवा में पलने दें? अवश्य नहीं। जेल के परिचालकों का यह कर्तव्य है कि कैदियों को तरह-तरह के अखबार, पुस्तक, आलोचना, खेल देकर उनको बातचीत के नित नये विषय (*topic*) दें।

अधिक से अधिक पत्र, मुलाक़ात

कैदी जिससे अपने वर्त्तमान को ही सब कुछ समझ न बैठे उसके विचारों की पश्चातभूमि में हमेशा उसके परिवार को बने रहने देना चाहिये। इसके लिये उसको अधिक से अधिक पत्र, मुलाक़ात देनी चाहिये। अमेरिका में आमतौर पर कैदियों को दो सप्ताह में पत्र लिखने का तथा महीने में एक बार मुलाक़ात करने का अधिकार है, किन्तु कुछ राष्ट्रों में पत्र और मुलाक़ात पर कोई भी रोकटोक नहीं है।

अमेरिका में कैदियों का निकाला हुआ अखबार

अमेरिका में कैदियों की दिलचस्पी को बढ़ाने के लिये कुछ जेलें अपना-अपना अखबार निकालती हैं। १८८० में एल्मिरा रिफार्मेटरी के मिस्टर ब्राकवे कैदियों द्वारा एक अखबार निकल वाते थे। स्मरण रहे कि उस युग में भारत के अधिकांश बड़े शहर में भी कोई अखबार नहीं था। एल्मिरा से निकलनेवाले इस अखबार का नाम *Summary* (संक्षिप्तसार) था। इसमें आठ पृष्ठ होते थे। पहिले पृष्ठ पर ताज़ी से ताज़ी खबर होती थी, दूसरे पृष्ठ में संपादक द्वारा लिखित संपादकीय और कभी-कभी रिफार्मेटरी के कैदियों के द्वारा लिखित टिप्पणियाँ होती थीं। तीसरे पृष्ठ पर विविध निबन्ध, कवितायें, हासपरिहास, चौथे पृष्ठ पर संपादक द्वारा लिखित रिफार्मेटरी के सम्बन्ध में टिप्पणियाँ, तथा जगह खाली रहने पर कवितायें तथा कैदियों की लिखी टिप्पणियाँ होती

थीं। पाँचवें पृष्ठ पर फिर खबरें होती थीं। छठे पृष्ठ पर किसी मासिकपत्रिका से छाँटकर एक गल्प दे दी जाती थी। सातवें पृष्ठ पर कोई शिक्षाप्रद निबन्ध रहता था। आठवें पृष्ठ पर खेल तथा थियेटर की खबरें रहती थीं। इस अख़बार में कोई सनसनीखेज़ अपराध का समाचार, घुड़दौड़ या मुक्केबाज़ी की ख़बर नहीं छापी जाती थी। इसी प्रकार मिनेसोटा की जेल का भी एक निजी अख़बार था।❀

ओबार्न न्युयार्क में स्वायत्त-शासन का प्रयोग

कैदी में ज़िम्मेदारी के भाव उत्पन्न करनें के लिऐ यह जरूरी है कि उसे ज़िम्मेदारी दी जाय। रूस में इसी ख्याल से कैदी को अधिक से अधिक स्वायत्त-शासन दिया गया है, यह तो पहिले ही हम बता चुके हैं, किन्तु अमेरिका में ओबार्न न्यूयार्क के मिस्टर ओसबार्न ने कैदियों में स्वायत्तशासन का प्रयोग रूस से पहिले ही किया। इस पद्धति के अनुसार कैदी एक लीग का चुनाव करते हैं, जेल का बहुत कुछ इन्तज़ाम इसी लीग के अधीन रहता है, यहाँ तक कि अनुशासन भी। पाकशाला, कारखाना, स्कूल, प्रार्थना-गृह से सन्त्री हटा लिये गये थे, किन्तु डंडा (*Mainwall*) पर पहरा कुछ बढ़ा दिया गया था। खेल भी लीग की ही देख-रेख में होते थे।

इन सब उपायों द्वारा कैदी को काम तथा खेल में लगा रक्खा जाय तो भी उनमें अपराध पर बातचीत रहेगी ज़रूर, किन्तु वह अधिक से अधिक गौण हो जायगी।

अप्राकृतिक व्यभिचार और कोठरी-पद्धति

तीसरी बात जो कोठरी-पद्धति के समर्थन में कही गई है, वह यह है कि कैदी को किसी दूसरी तरह से रक्खे जाने पर वह उसका

❀ *Crimenology + penology by Dr. J.L. Gillin.*

बेजा फ़ायदा उठाकर अप्राकृतिक व्यभिचार करना है। इस विषय पर बहुत गंभीरता से विचार करना चाहिये। हमें इस सम्बन्ध में इन बातों पर विचार करना है—

(१) जेल के बाहर अप्राकृतिक व्यभिचार जितना है क्या जेल में उससे अधिक है, अधिक है तो कितना अधिक ?

(२) क्या जेल-पद्धति के साथ-साथ अनिवार्य है कि यह रहे ?

(३) क्या कोई तरीक़ा है कि जेल से यह दोष दूर हो, और यदि है तो क्या कोठरी-पद्धति ही वह तरीक़ा है ?

(४) कोठरी-पद्धति से यदि अप्राकृतिक व्यभिचार बन्द होता है, तो वह कुछ दूसरा दुर्गुण जैसे आत्मप्रणय (*auto-erotism*) पैदा तो नहीं करती ?

अमेरिका तथा इङ्गलैंड की जेलों में अप्राकृतिक व्यभिचार

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि जेलखाने के बाहर भी अप्राकृतिक व्यभिचार मौजूद है, हर देश के क़ानून की किताबें ही इस मौजूदगी का प्रकृष्ट प्रमाण है। और इसका परिमाण कितना है, यह अदालतों में जितने मामले आते हैं, उनसे पता नहीं लगता। डा० हैम्बलिन स्मिथ कहते हैं "*It is likely that homosexuality in free life is more common than is usually appreciated.** अर्थात् "मुक्त जीवन में शायद अप्राकृतिक व्यभिचार इससे कहीं ज्यादा है जितना लोग समझते हैं।" इससे पता चलता है कि केवल जेल तक ही यह कुअभ्यास सीमित है ऐसा नहीं। उसी डाक्टर साहब का कहना है "अक्सर यह कहा जाता है कि कैदी-जगत में आत्मप्रणय (*auto-erotisim*) का अभ्यास बहुत फैला हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जेल में आत्मप्रणय का अभ्यास बहुत ही विस्तृत है, किन्तु मैं समझता हूँ उससे अधिक नहीं जितना कि उन सब जगहों के

**Prisons P. 116*

लिये स्वाभाविक है जहाँ रमणेच्छा की स्वाभाविक परितृप्ति नहीं होती। लोग जितना समझते हैं यह अभ्यास उससे कहीं अधिक प्रचलित तथा कम हानिकर हैं। मैंने यह भी लोगों को कहते सुना कि अप्राकृतिक व्यभिचार जेलों में है। अमेरिका की जेलों में भीड़ के कारण एक ही कोठरी में कई-कई आदमी बन्द किये जाते हैं, इसलिये वहाँ ऐसा होता है, ऐसा समझने का कारण है, किन्तु इङ्गलैंड की जेलों में इसकी उतनी गुँजाइश नहीं है। फिर भी वहाँ अप्राकृतिक व्यभिचार होते ही होगें चाहे कितनी भी देखरेख रक्खी जाय, क्योंकि जहाँ भी केवल स्त्रियों या केवल पुरुषों का एकत्रीकरण होता है, वहीं यह अपराध होता है। मैं नहीं समझता कि इङ्गलैंड की जेलें इस नियम से बाहर हैं।" ❀

वर्त्तमान जेल-पद्धति में अस्वाभाविक मैथुन की अनिवार्यता

इङ्गलैंड में डाक्टर स्मिथ ३२ साल तक जेलों के अध्यक्ष थे, इस कारण उनके कथन के बाद इस सम्बन्ध में कुछ कहने की जरूरत नहीं। रमणेच्छा (*sex impulse*) एक साधारण इच्छा है, कैद हो जाने के कारण कैदी या कैदिन की यह इच्छा किसी तरह घटती है ऐसा तो नहीं ज्ञात होता, बल्कि सारे मनोविज्ञान की यही गवाही है कि इकरस जीवन में उसकी क्षुधा और भी तीव्र हो जाती है, और यह स्वाभाविक ही है कि जब बहुत दिनों तक इस भूखको कोई निकास की जगह नहीं मिलती तो वह तरह-तरह के विपरीत मार्ग से फूट निकलती है। मनुष्य के मैथुनिक (*sexual*) जीवन में गड़बड़ पड़ जाने से सैकड़ों अप्राकृतिक तथा विपरीत बातें हो जाती हैं, ऐसा मनोविश्लेषण का नया विज्ञान हर गली-कूचे से चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है। जेल में यह कुअभ्यास बिलकुल स्वाभाविक है, वहाँ के लोगों से यह उम्मीद करना कि वहाँ आकर लोग सुधरेंगे, तथा

❀ *Ibid.*

साधारण (*normal*) हो जायेंगे बिलकुल ग़लत है। जेल की वर्त्तमान पद्धति में सबसे मूर्खतापूर्ण यह उन्माद है। एक व्यक्ति को यह समझकर कैद किया जाता है कि वह पतित है, समाज के औसत दर्जे से निम्न-श्रेणी का है, फिर जेल पद्धति में ऐसे व्यक्ति से यह उम्मीद की जाती है वह अत्यंत अप्राकृतिक अवस्था में बीस साल तक ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी रहे, यह कितना अद्‌भुत तथा अस्वाभाविक है। जिस व्यक्ति ने जज के आसन पर बैठकर समाज की ओर से इस व्यक्ति को यह सज़ा सुनाई थी, यदि उसीसे कहा जाय तो वही इतने सालों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन शायद ही कर सकेगा। इस दृष्टि से वर्त्तमान जेल-पद्धति मौलिक रूप से ग़लत है।

रात में कोठरी, दिन में सबके साथ

प्रत्येक व्यक्ति द्विलिंगी (*hermaphrodite*) नहीं तो द्विस्वभावयुक्त (*ambi-valent*) जरूर होता है, इसलिये उसमें पुरुषकी तरह प्यार करने की इच्छा तथा स्त्री की तरह प्यार किये जाने की इच्छा होती है। जेल में यह दोनों इच्छाओं की पूर्ति स्वाभाविक तौर पर न हो पाने के कारण स्थूल अप्राकृतिक अपराध, (*sodomy*) सूक्ष्म अप्राकृतिक अपराध (*catamism*) तथा आत्मप्रणय (*auto-erotism*) में वे तृप्तहोती हैं। यदि कैदीको दिन-रात कोठरी में बन्द रक्खा जाय तो वह अप्राकृतिक अपराध तो नहीं कर पायेगा, किन्तु वह इकरसता को दूर करने के लिये तथा स्वाभाविक मैथुनेच्छा की क्षुधा को मिटाने के लिये अक्सर या कभी-कभी हस्तक्रिया की शरण ले सकता है। इसको रोकने का कोई तरीक़ा नहीं है। एक तरफ़ तो दिन-रात कोठरी में रक्खे जाने का यह नतीजा होसकता है, दूसरी ओर कोठरी का प्रभाव मन के लिये बहुत ही खराब हो सकता है। एक बात और, क़ानूनन चाहे जो कुछ भी हो मनोविज्ञान के अनुसार आत्मप्रणय अप्राकृतिक अपराध से कहीं खतरनाक है, और

उसमें *neurosis* की अधिक संभावना रहती है। हमें इस जगह पर इन बारीकियों से मतलब नहीं, हमें तो आत्मप्रणय और अप्राकृतिकता दोनों से लड़ना है। इसलिये हमारी राय में सबसे अच्छा तरीक़ा यह होगा कि क़ैदी रात को बिलकुल अकेला एक कोठरी में रक्खा जाय, किन्तु दिन में सब के साथ काम करे, खेले, पढ़े, सीखे, बात करे। दिन में रहने की जगह, टट्टियाँ (*latrines*) तथा हरेक कोना ऐसा होना चाहिये कि किसी भी समय उसको अकेला या दुकेला न छोड़ा जाय। रात को कोठरी तो हो, किन्तु उसमें पढ़ने-लिखने का सामान हो। मैं यह भी समझता हूँ कि क़ैदी के लिये सब तरह की पुस्तकें हों, सिवा उनके जिनका प्रभाव उस पर बुरा हो सकता है। संगीत का प्रबन्ध यदि रेडियो से हो तो अच्छा है। किन्तु संगीत भी नियन्त्रित हो।

अपराधी पर ख़र्च उचित

यह बार-बार कहा गया है कि क़ैदियों पर जितना ख़र्च किया जाता है उतना ख़र्च करने की ज़रूरत नहीं। ऐसे लोगों का कहना यह है कि जो लोग समाज के शत्रु हैं, उन पर इतना ख़र्च करना मुनासिब नहीं। ऐसा कहनेवाले कहते हैं कि इस प्रकार अपराधियों पर मामूली शान्तिप्रिय क़ानून माननेवाले व्यक्ति से अधिक ख़र्च करना एक प्रकार से अपराधी को साधारण नागरिक पर तरजीह देना है। ऊपरी दृष्टि से यह बात तो सच मालूम देती है, किन्तु गहराई से विचार करने पर ज्ञात होगा कि अपराधी पर ख़र्च करना सारे समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर ख़र्च करना है। यदि शरीर के एक अंग में फोड़ा निकले, और उसके इलाज पर ख़र्च किया जाय तो यह तो नहीं कहा जा सकता कि केवल उसी अंग पर ख़र्च हो रहा है। अपराधी समाज-शरीर का एक दुष्ट अंग है, उसके इलाज में सारे समाज का ही हित है। यदि कोई यह मत प्रतिपादन करे

कि वह दुष्ट अंग तो है, किन्तु बहुत ही छोटा अंग है। उसके इलाज में इतना खर्च करने के बजाय उस पर कम से कम खर्च किया जाय; तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अपराधी के अपराधी होने की सारी जिम्मेदारी समाज पर है, इसलिये उसके इलाज की जिम्मेदारी भी समाज की है। केवल यह नैतिक कर्त्तव्य का सवाल नहीं, इसके साथ ही एक डर (*threat*) भी लगा हुआ है, वह यह कि यदि उसका इलाज नहीं किया गया, तो वह समाज के लिये एक भयंकर ख़तरे की चीज़ हो जायगा। अपराधी एक ताऊन से बीमार की तरह है, यदि उसका इलाज नहीं किया जायगा, या कम से कम यह कोशिश न की जायगी कि रोग उस ही तक सीमित रहे तो समाज का ही इससे नुक़सान होगा।

क़ैदी से काम लेने के उद्देश्य में अनिश्चितता

क़ैदी पर जो खर्च होता है बहुत कुछ इसलिये होता है कि वर्त्तमान जेल-पद्धति इसके लिये जिम्मेदार है। जेलों को अपने खर्च के मामले में आत्मनिर्भर बनाने की चेष्टा के बजाय कई तरह के कुसंस्कारों से इनका खर्च बढ़ता ही गया है। सबसे पहिला प्रश्न तो यह है कि क़ैदी से काम कराने का उद्देश्य क्या है? क्या इसका उद्देश्य क़ैदी को हरदम काम में लगा रखना, और इस प्रकार बुरी चिन्ताओं से दूर रखना है? या इसका उद्देश्य क़ैदी को तक़लीफ़ पहुँचाना तथा अपमानित करना (*humiliate*) करना है? या इसका उद्देश्य क़ैदी को अपना खर्च, और हो सके तो अपने परिवार का खर्च बर्दाश्त करने की अवस्था में लाना है? या जेल की मशक़्क़त का उद्देश्य क़ैदी को कोई काम सिखलाना है जो बाद के जीवन में उसकी जीविका का उपाय हो सके? सच बात तो यह है कि इन प्रश्नों को कोई अन्तिम उत्तर देने की चेष्टा नहीं की गई है, और एक अजीब उदासीनता से इस प्रश्न

को बिना सुलझाये हुए ही जेलें चलाई जा रही हैं। कहना न होगा कि इस प्रश्न को सुलझाये बिना आगे बढ़ना बिलकुल असंभव है।

जेल के काम को केवल सज़ाई समझना ग़लत

जो लोग यह कहते हैं कि जेल की मसक्कत का उद्देश्य केवल सज़ाई (*penal*) है, उनके सिद्धान्त का बहुत दिनों तक अखंड राज्य रहा. अब भी बहुत कुछ उन्हीं का सिद्धान्त कार्यरूप में चलता है। क्रैंक और ट्रेडह्वील का हम पहिले ही ज़िक्र कर चुके हैं। चक्की, कोल्हू यह सब उसी सिद्धान्त का फल है। एक व्यक्ति दिन भर में २० सेर आटा पीस सकता है, बीस सेर की पिसाई एक आना होता है, इसी प्रकार जो काम जेल में लिये जाते थे उनकी मजदूरी से कैदी की सूखी रोटी का ख़र्च भी नहीं निकलता। इस सिद्धान्त को किसी-किसी काम में तो हास्यास्पद हद तक पहुँचा दिया गया। इङ्गलैंड की जेलों में एक मशक्क़त प्रचलित थी *sorting*, इसमें क़ैदी को काले और सफेद मटर तथा जौ को अलग करना पड़ता था। इस अलग करने का कोई भी आर्थिक अर्थ नहीं था, क्योंकि इनके गुण या स्वाद में कोई फ़र्क नहीं था, शायद अलग किये जाने के बाद वे फिर मिला दिये जाते थे? कहीं-कहीं गड्ढे खोदकर पाटे गये हैं इसका भी मुझे पता है? समाज की इतनी मिहनत का फजूल जाना किसी हालत में अच्छा नहीं कहा जा सकता। हाँ, सजा के तौर पर कुछ लोगों को कड़ी मशक़्क़त देना चाहे वह बिलकुल ही बेकार हो, ठीक हो सकता है, किन्तु आम तौर से कैदी से बेकार या क़रीब-क़रीब बेकार काम कराना बुरा ही असर पैदा करेगा।

क़ैदी में काम के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की जाय

'हमारा वर्त्तमान समाज आलस्य में गौरव-बोध की धारणा पर अवलम्बित है। जो व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में पहुँच जाता है कि

वह काम नहीं करता या जिसे काम करने की ज़रूरत नहीं रहती, वह एक सौभाग्यवान व्यक्ति समझा जाता है, और उसका अभिनन्दन किया जाता है। धनी व्यक्ति की, चाहे उसका धन किसी भी प्रकार प्राप्त हो गया हो, हम ईर्ष्या करते हैं। जो लड़की किसी धनी से शादी कर लेती है हम उसके बारे में कहते हैं कि उसने शादी अच्छी की। आनन्द की जितनी भी कल्पनायें हैं, उनमें काम की कोई बात-चीत कहीं नहीं। बहुतों के निकट स्वर्ग का माने चिरस्थायी आलस्य है।'❀ ऐसी अवस्था में आमतौर पर लोगों का काम के सम्बन्ध में कुछ अच्छी धारणा नहीं है, लोग काम इसलिये करते हैं कि ऐसा बिना किये नहीं चलता। यह एक ज़रूरी बुराई है, इत्यादि। फिर आम धारणा से अपराधी की धारणा और भी गई बीती है। वह तो काम करना ही नहीं चाहता, किन्तु ज़रूरतें उसकी भी हैं, इसलिये वह अपराध करता है। ऐसे आदमी जेल की मशक़्क़त से नफ़रत करेंगे, तथा उसे करें भी तो एक मजबूरी समझकर करेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। काले और सफेद जौ तथा मटरों को अलग कराकर उनसे मिलवाने से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि काम के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ेगी। यह बात यहाँ साफ़ कर दी जाय कि यदि जेल-पद्धति काम के प्रति क़ैदी का प्रेम उत्पन्न नहीं कर पाई, तो वह व्यर्थ है, इसलिये साफ़ है कि ऐसे कामों का क़ैदी से करवाना जेल पद्धति का हम जो उद्देश्य समझते हैं, उसे बिलकुल व्यर्थ कर देना है। इसलिये जेल की मशक़्क़त का जो सज़ाई सिद्धान्त है वह बिलकुल ही ग़लत है, और यह बदले के सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है।

❀ *Dr. Hamblin Smith in 'Prisons, p. 45*

काम उत्पादक हो, तथा कैदी को उससे लाभ हो

अब यही बात रह गई कि कैदी से काम तो लिया जाय, किन्तु इस प्रकार का काम लिया जाय जो उत्पादक हो। साथ ही यह भी ज़रूरी है कि कैदी को उस काम का अधिक से अधिक फायदा मिले, नहीं तो काम की उत्पादकता (*productivity*) स्पष्ट होने पर भी बराबर उसके हृदय में यह धारणा बनी रहेगी कि वह लूटा जा रहा है, उसके काम का फ़ायदा दूसरे उठा रहे हैं इत्यादि। मन की पश्चात भूमि में हमेशा इस धारणा के मौजूद रहने से किसी के मन में काम के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता, बहुत संभव है कि सभी कामों के प्रति उसको घृणा हो जाय। काम में कैदी की दिलचस्पी पैदा करने के लिये यह ज़रूरी है कि उसको मज़दूरी का एक हिस्सा मिले, जितना ज़्यादा हिस्सा मिले उतना ही इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये अच्छा है।

कैदी के मज़दूर बनने से किसी को हानि नहीं

कैदी को जिससे अधिक से अधिक मजदूरी दी जा सके इस-लिये ज़रूरी है कि उसका श्रम अधिक से अधिक उत्पादक हो, क्योंकि यदि वह श्रम उत्पादक नहीं हुआ तो उसको रखने, खिलाने, पिलाने, दवा देने के बाद पैसे बचेंगे कैसे? श्रम को उत्पादक बनाने के लिये मशीन की आवश्यकता है। कई तरह से लोग इस पर आपत्ति करते हैं। यह कहा जाता है कि यदि कैदी का श्रम औद्यो-गिक धन्धों में व्यवहृत हो, तो यह बाहर के आजाद मज़दूरों के साथ बड़ा भारी अन्याय होगा। मैं यह नहीं समझ पाता कि ऐसा क्यों होगा। यदि जेल-विभाग ऐसा करे कि कैदियों को रूखी-सूखी रोटी देकर उनसे पूरा काम ले, और इस प्रकार पैदा किये हुए माल को बाज़ार में प्रतियोगिता कर कम से कम दाम पर बेंचे, तब तो यह बात उठ सकती है, किन्तु यदि वह कैदियों को पूरी

मज़दूरी देकर उनसे काम लें, और फिर उस प्रकार पैदा किये हुए माल को बाज़ार में बाज़ार भाव पर बेचें, तो उसमें किस प्रकार बाहरी मज़दूरों को नुकसान पहुँच सकता है? फिर भी यह कहा जा सकता है कि ये क़ैदी यदि काम न करें, तो बाज़ार में उतना माल कम जायगा, इस प्रकार बाहरी मज़दूरों की मिहनत की माँग बढ़ेगी, तो यह एक लचर तर्क है, क्योंकि कोई व्यक्ति क़ैद हो गया तो इससे यह क्यों समझा जाय कि वह सामाजिक परिश्रम के दायरे से निकल गया। यदि उस व्यक्ति को क़ैद न होती तो वह भी एक आज़ाद मज़दूर होता इसलिये क़ैद होने ही उसकी इस सम्बन्धी परिस्थिति में परिवर्तन हो गया, ऐसा समझने के लिये क्या कारण है। ऐसा करने से तो याने क़ैदी से यदि हम इस हक़ को क़ैद के अनिवार्य अंग के रूप में छीन लें, तो हम देख चुके कि उसका नतीजा यह होगा कि जो लोग असामाजिक थे, वे और भी असामाजिक हो जायेंगे, क्योंकि वे समाज की मूलभूत चीज़ परिश्रम से नफ़रत करनेवाले हो जायेंगे इन कारणों से मैं समझता हूँ कि क़ैदी यदि जेल के अन्दर एक मज़दूर की हैसियत प्राप्त करे तभी ठीक रहेगा।

जेलों में उन्नत यन्त्रों का व्यवहार

अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि जेलों में वाक़ई कहीं उन्नत यन्त्रों का व्यवहार है या नहीं। १६१६-२० की भारतीय जेल-कमेटी अमेरिका तथा युरोप की जेल-पद्धतियों का अध्ययन करने के लिये अमेरिका तथा युरोप गई थी। उसकी रिपोर्ट से पता चलता है कि वेकफील्ड जेल में उन्होंने उन्नत यन्त्रों से ऊनी माल बनते देखा, ये ऊनी माल सरकारी विभागों में खपाये जाते थे। कमेटी ने अमेरिका की जेलों में उन्नत से उन्नत यन्त्रों को काफ़ी मुनाफ़े के साथ व्यवहृत होते देखा। इंडियाना, तथा मिनेसोटा की

कुछ जेलें खेती के लिये *Bindertwine* बनाकर अपना खर्चा बखूबी निकाल लेती पाई गईं। फिलिपाईन की राजधानी मैनीला की बिलिबिड (*Bilibid*) जेल में कमेटी ने यन्त्र का इस्तेमाल होते देखा, साथ ही उन्होंने जापान की जेलों का सरकारी विभागों के लिये माल बनाते देखा। इसके अतिरिक्त जापान की जेलों में स्क्रू, फाइलें, ब्रुरूश, जूते, मेज़, कुरसी, मोज़े, कपड़े, मेलबैगवालों की पिन, साइकल, सूटकेस आदि बाज़ारों के लिये बनने की बात लिखी है। डा० स्मिथ ने भी जापान में क़ैदियों द्वारा ऊँची से ऊँची किस्म के औद्योगिक परिश्रम (*highest form of industrial work*) कराये जाने की बात लिखी है। †

हमारा यह सुचिन्तित मत है कि क़ैदियों को यदि औद्योगिक धन्धों में लगाया जाय, तो उससे बाहर के किसी को नुक़सान नहीं पहुँच सकता।

क़ैदी के लिये खेल का महत्त्व

क़ैदी के लिये खेलों (*games*) का क्या महत्त्व हो सकता है, इस पर किसी अपराधविज्ञान के विद्वान ने नहीं लिखा है। अधिक से अधिक इसकी व्यवस्था की इसलिये सिफ़ारिश की गई है कि यह इकरसता (*monotony*) को दूर करता है, किन्तु यह उसका एक पहलू मात्र है। खेलों के सम्बन्ध में एक बात हम पहिले भी बता चुके हैं, वह यह कि इनसे क़ैदियों की बातचीत के विषय को अपराध के क्षेत्र से हटाने का मौक़ा मिलेगा, किन्तु इन दो फ़ायदों के अतिरिक्त और भी फ़ायदे हैं जिनका पता शिक्षाविद्याविशारदों ने लगाया है। अवश्य शिक्षाविद्या-विशारदों (*educationists*) ने इन खोजों को विशेषकर बच्चों की शिक्षा के

† '*Prisons*', *p.* 45.

सिलसिले में किया है, किन्तु उनके नतीजे अपराधियों के लिये उतनी ही हद तक लागू हैं। खेल में एक बहुत बड़ी शिक्षा यह होती है की हम अपनी हार को मुँह न बनाकर भौं न सिकोड़कर मानने की शिक्षा पाते हैं। यह गुण अभ्यास रूप धारण करने पर खेल के मैदान के बाहर कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। बहुत से अपराध मनुष्यों में यह ज़हनियत न होने के कारण किये जाते हैं। क और ख दो नौजवान हैं वे ग नामक लड़की को प्यार करना चाहते हैं, दोनों उसके प्रति निवेदन करते हैं, किन्तु ग क का प्रस्ताव स्वीकर करती है। अब इस पर ख को चाहिये वह अपने को हारा हुआ समझकर इस क्षेत्र से हट जाय, किन्तु इसके बजाय यदि वह क को मारकर रास्ता साफ़ करना चाहता है, या ग को धमकाता है या प्रलोभन देता है, या उसे उड़ाकर भाग जाता है, तो वह अपराधी है। दूसरी बात यह है कि खेल में खेलनेवाले को हमेशा कुछ नियम मानकर चलना पड़ता है, नियम को तोड़कर या उसकी अवज्ञाकर खेल जीतनेवाले खिलाड़ी नहीं समझे जा सकते। इस प्रकार खेलनेवाले के दिमाग में नियमानुवर्तिता का अभ्यास पड़ जाता है, जो एक अच्छा सामाजिक गुण है। इसी प्रकार अपनी जीत पर अधिक ख़ुश न होना, तथा हारे हुए को ज़लील न करना यह भी खिलाड़ी का गुण है। एक खिलाड़ी हार जीत दोनों को स्थिर होकर लेता है। यह भी एक सामाजिक गुण है। जिन खेलों में एक तरफ़ से कई-कई आदमी खेलते हैं, उनमें मलकर काम करना पड़ता है। कोई यदि अकेला अच्छा खिलाड़ी भी है, किन्तु अपने गुइयों के साथ मिलकर नहीं खेल पाता तो वह अच्छा खिलाड़ी नहीं है। अपराधी अधिकतर व्यक्तिवादी होता है, उसमें इस गुण को विकसित करना जरूरी है। अवश्य कुछ अपराध ऐसे होते हैं जो दूसरों को गुइयाँ बनाकर (*in team*) किये जाते हैं जैसे डकैती, औरत बेचना इत्यादि। ये अपराध तो

गिरोह बनाकर किये ही जाते हैं। ऐसे लोगों में खेल में क्या उचित (*fair*) है, क्या अनुचित यह सिखाना पड़ेगा।

छोटी क़ैदें न हों

पहिले ही कहा गया है कि जहाँ तक हो सके अपराधी को जेल न भेजा जाय, जुर्माना वग़ैरह करके छोड़ दिया जाय, किन्तु यदि क़ैद उसे दी ही जाय तो उसे छोटी क़ैद न हो। गारोफालो ने अपनी (*Criminology*) नामक पुस्तक में कहा है "यह तो बिल्कुल ही स्पष्ट है कि छोटी क़ैदों से कोई भी डर पैदा करने का असर नहीं पड़ता, रहा सुधारक असर, सो इस पर तो बात करना ही व्यर्थ है।" सर एवेलिन रग्लस ब्रिस ने १६०५ में बुडापेस्ट की अपराध-विज्ञान कांग्रेस मे एक निबन्ध पढ़ते हुए कहा कि छोटे-मोटे अपराधों के लिये जो लगातार कई बार छोटी-मोटी सज़ा दी जाती है, उससे तो अपराध बढ़ता है, न कि घटता है। १६१६-२० की भारतीय जेल कमेटी ने यह शिफ़ारिस की थी कि २८ रोज़ से कम कोई सज़ा न दी जाय। ❋

मिश्र में प्रचलित पद्धति

इस जेल कमेटी के सामने मिश्र की जेलों तथा उसके बाहर अपराधों के साथ लड़ाई का एक विवरण पेश था। इससे मालूम होता है कि वहाँ यह तरीक़ा था कि यदि किसी व्यक्ति को जुर्माना होता था या तीन महीने तक की महज़ क़ैद होती, तो वह जेल जाने के बजाय बताई हुई जगह पर रोज़ छै घंटे काम कर सकता था। इस प्रकार काम करने की मीयाद बाँध दी जाती थी। † जेल में भेजकर दाग़ी बना देने के बजाय छोटे-मोटे अपराधों में इस प्रकार

❋ *Report of Indian Jail Enquiry Committee, p. 229.*

† *Ibid, p. 230.*

नियत समय तक काम ले लेना ज्यादा अच्छा होगा। मिश्र में यह पद्धति बहुत सफल रही।

डा० हैम्बलिन स्मिथ की राय

डा० हैम्बलिन स्मिथ का तो कहना है "३ महीने की कम सज़ा ग़ैरक़ानूनी कर दी जाय। जिन लोगों को जेल के सम्बन्ध में तजर्बा या ज्ञान है, वे छोटी कैद की हमेशा निन्दा ही करेंगे। यह ज़रूरी है कि जेल में भेजना अब से कठिन तथा कम कर दिया जाय। किसी को जेल भेज देना बहुत ही गम्भीर बात है, किन्तु अब तो मैजिस्ट्रेट लोगों को यों जेल भेज देते हैं, जैसे वे कोई गाजरमूली हों। ऊपर से देखनेवाले किसी भी व्यक्ति को हमारे विचारालयों का ग़लत तरीक़ा मालूम हो जायगा। समरी जुरिसडिक्सन की अदालतों (हमारे यहाँ के आनरेरी मैजिस्ट्रेटों की अदालतों की तरह) को यह जो जब तब कैद करने का अधिकार है यह छीन लेना चाहिये। जेल की सज़ा तभी दी जाय, जब मामले को पूरे तरीके से समझने के बाद ऐसा करना आवश्यक समझा जाय। कहा जायगा कि सब बातें समझने के बाद ही ऐसा किया जाता है, यह बात बिल्कुल झूठी है। माना कि वे उस अपराध के बारे में सब बातें जानते हैं (जैसा की वे अक्सर नहीं जानते) फिर भी वे बहुत थोड़ा जानते हैं। यह तो वही पुरानी बात है कि अपराधी के व्यक्तित्व की बिलकुल अवज्ञाकर उसके अपराध को ही सब कुछ समझा जाय। यदि कोई अदालत अपराध को तौलने के बाद यह समझे कि अपराधी को जेल में भेजना जरूरी है, तो उसको यह अख़्तियार नहीं होना चाहिये कि वह उस सज़ा को उसी समय कार्यरूप में परिणत करे। मुक़दमे का फैसला तब तक मुलतवी रक्खा जाय जब तक कि अपराधी का पूरा इतिहास साथ ही उसके व्यक्तित्व के बारे में सारी ज्ञातव्य

बातें ज्ञात न हो जायं। इन बातों को मालूम किये बिना सज़ा दे देना वैसा ही है जैसे किसी रोगी की पूरी परीक्षा न कर केवल एक ही लक्षण देखकर दवा की तजवीज़ की जाय। मैंने जो तरीक़ा बतलाया है उसमें अपराधी के प्रति कोई पक्षपात नहीं है, बल्कि जहाँ तक मैं समझता हूँ कि मेरी पद्धित से बहुत से अपराधियों को नुक़सान ही होगा, और वे शायद वर्त्तमान पद्धित का ही रहना पसन्द करें"।* बम्बई हाईकोर्ट के विचारपति जस्टिस मिस्टर हीटन (*Mr. Justice Heaton*) ने यहाँ तक कहा कि एक अदालत तो केवल इतना ही फैसला दे कि अभियुक्त दोषी है या निर्दोष, दूसरी अदालत सज़ा का निश्चय अभियुक्त की सारी परिस्थितियों का निरीक्षण करने के बाद करे। (†)

अनिश्चित सज़ा का सिद्धान्त

अनिश्चित सज़ा (*indeterminate sentence*) का सम्बन्ध छोटी क़ैद के प्रश्न से सम्बद्ध है। हम पहिले ही यह बता चुके हैं कि अनिश्चित सज़ा का सिद्धान्त यह है कि अपराध से सज़ा का सम्बन्ध न हो बल्कि अपराधी के सुधरने तक वह जेल में रक्खा जाय। विशेषकर दुबाड़ों के सम्बन्ध में ही यह सिद्धान्त है। केवल न्यूज़ीलैंड में ही अनिश्चत सज़ा का पूर्ण सिद्धान्त प्रचलित है। अमेरिका के कुछ राष्ट्रों में यह प्रथा इस रूप में है कि क़ैदी यदि सुधरनेके लिये लक्षण न दिखलाये तो उसने जो अपराध किया उसमें जो अधिक से अधिक सज़ा है उतने समय तक वह जेल में रक्खा जा सकता है। उस हालत में सिद्धान्त रूप से तो क़ैदी समाज के लिये कहाँ तक योग्य हुआ इस विषय पर जेल-अधिकारियों के मत पर ही उसकी रिहाई निर्भर रहती है, किन्तु कार्यरूप में तरह तरह

**Prisons, p. 137.*

†*I. J. E. Report 1919-20, p. 230.*

की और बातों के प्रभाव से इस प्रश्न का निर्णय किया जाता है❀। (२) जिन अपराधियों ने बिल्कुल सुधरने से इनकार कर दिया, उनको कभी छोड़ा ही न जाय ऐसा कुछ लोगों का विश्वास है। कुछ लोग तो कहते हैं असली मृत्युदंड के अधिकारी तो ये ही हैं। यह प्रश्न हँसकर उड़ा देने योग्य नहीं है। जहाँ तक फाँसी दे देनें का ताल्लुक़ है इस विषय पर तब तक किसी अन्तिम परिणाम पर पहुँचा नहीं जा सकता, जब तक कि मनोविज्ञान यह निश्चत रूप से कह दे कि एक व्यक्ति जो बीस साल तक अपराधी रहा है वह कभी अपराध छोड़कर भलामानुस नही होगा, किन्तु पुराने स्वभाव अपराधी को छोड़ने में मैं कोई तुक नही पाता। रूस में जिस प्रकार के प्रयोग दुबाड़ों के साथ हो रहे हैं, वैसा प्रयोग सर्वत्र होने हैं ही कल्याण मालूम देता है।

अब हम जेल-पद्धित की बड़ी-बड़ी बातों की ओर पाठक की दृष्टिं खीच चुके। अब हम देख चुके कि जेल पद्धति क्या है वहाँ .कैदी के साथ क्या होता है वहाँ क्या संभवनायें हैं। इसलिये अब हमारे लिए यह बात आसान हो गई कि हम उसकी भलाई-बुराई पर विचार करें। जिस पद्धति को हम जाने ही नहीं कि वह क्या है उस पर हम कोई मत कैसे क़ायम कर सकते हैं।

जेल का गुणपरिमाणगत विवेचन

अब हमें कैन्ट की सज़ा सम्बन्धी गुण तथा परिमाणगत सिद्धान्त पर वापस जाना पड़ेगा। चोरी लोभवश की जाती हैं, जुर्माना करों, बलात्कार इन्द्रियगत सुख के लिये किया जाता है इसलिये उसकी जननेन्द्रिय काट लो या उसे बेत लगाओ, इत्यादि यह सब तो समझ में आता हैं, किन्तु जेल में बन्द होने के साथ किस अपराध से गुणपरिमाणगत सम्बन्ध है? हाँ यदि कोई किसी

❀*Prisons*, p. 62

को भगा ले जाता है या अपने घर के अन्दर बन्द रखता है तो उसके बदले उसे जेल में बन्द करना कुछ हद तक समझ में आता है किन्तु भला एक कोंहड़ा चुराने के साथ ३ महीने जेल में रहने से कौन सा गुणपरिमाणगत सम्बन्ध है यह समझ में नहीं आता। इस बिषय पर स्वयं कैन्ट ने न तो कुछ लिखा है न उनके सिद्धान्तो के हामियों ने। स्पष्ट है कि कैन्ट का सिद्धान्त वर्तमान युग की सज़ा-पद्धित में विशेषकर जेलपद्धित के बारे में पूरा-पूरा खप नहीं सकता। इस प्रकार ज्ञात होता है कि कैन्ट का सिद्धान्त मध्ययुग की सज़ापद्धित के बारे में भले ही लागू हो किन्तु वर्त्तमान युग की जेल पद्धित के बारे में बिल्कुल लागू नहीं होता।

जेल-प्रथा से दासता का सम्बन्ध

इसके विपरीत विजित-शत्रु को गुलाम बना लेने की प्रथा से जेल-पद्धित की उत्पत्ति का पता लगाना अधिक उचित होगा, दोनों प्रथाओं में गुण तथा परिमाण की समता है। जेल भेजने की प्रथा दासता का ही एक बदला हुआ रूप है। जब कोई व्यक्ति समाज में प्रचलित अनुशासन का विरुद्धाचरण करता है तो उसे कुछ दिन वर्ष या हमेशा के लिये समाज से निकाल कर अलग कर दिया जाता है।

जेल की बनावट

पहिले जेलों की कोई अलग व्यवस्था नहीं थी बल्कि गढ़ों (*Fort*) में लोग क़ैद करके रक्खे जाते थे। धीरेधीरे इस काम के लिये अलग इमारत की जरुरत महसूस हुई क्योंकि गढ़ और जेल के कामों (*functions*) में प्रभेद था। गढ़ की इमारत ऐसी होती थी कि कोई बाहर से उस पर हमला न कर सके किन्तु जेल की इमारत में सब से बड़ी एहतियात यह अनिवार्य थी कि भीतर

के रहने वाले बाहर न जा सकें, तथा अन्दर एक हिस्से में विद्रोह हो तो दूसरा हिस्सा उससे अछूता रहे यहाँ तक कि उसमें रहनेवालों को पता न लगे कि क्या हो रहा है।

जेलपद्धित का आँशिक समर्थन

हम देख चुके कि कैंट के सिद्धान्त से जेल की सज़ा समझ में नहीं आती, किन्तु ऐतिहासिक रूप से वह हमारी समझ में खूब आती है, क्योंकि वह दास-प्रथा से मिलती-जुलती है। हम यह भी बता चुके कि जेल में भेजे जाने में जो बदनामी शर्म, (*stigma*) पेशा मारा जाना है उन सभी बातों में बदले का उपादान स्पष्ट है, किन्तु इतना दूर आकर अब हमें यह हक़ हो जाता है कि हम पूछें कि वाक़ई जेल-पद्धित का बदले के अतिरिक्त कोई और उद्देश्य भी है ? एक उद्देश्य तो यह है ही कि अपराधी और अपराध न कर सके। कहना न होगा यह उद्देश्य कोई मामूली उद्देश्य नहीं है। इसका सिद्ध होना भी एक बड़ा लाभ है ऐसा कहा जा सकता है। केवल इतने से ही जेल-पद्धित की उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

किन्तु हम इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते। समाजशास्त्रियों का तो यह दावा है कि ये अपराधियों को सुधार रहे हैं, हमें अब इस विषय पर विचार करना है कि यह कहाँ तक सत्य है, किन्तु हमें पहिले यह विचार करना है कि एक व्यक्ति को क़ैद कर लेने से समाज में क्या-क्या बुलबुले कहाँ-कहाँउठते हैं, और उसमें कहाँ-कहाँ गड़बड़ पैदा होती है।

एक व्यक्ति की क़ैद के अन्य प्रभाव

मान लीजिये कि 'क' ने 'ख' से फौजदारी की, और उसके फलस्वरूप 'क' को आजीवन कारावास की सज़ा हुई। इस फौजदारी का कारण खेती में मेड़ पर का झगड़ा था। अब देखिये इस क़ैद

से क्या-क्या नतीजे पैदा हुए। 'क' की उम्र जेल जाते समय २३ और सज़ा होते समय २५ थी।

व्यक्तिगत रूप से 'क' की जवानी तो एक तरह से खतम हो गई। उसका रोज़गार गया, आज़ादी गई, सब तरह से सुख की संभावना गई, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह सन्यासी हो गया। वह मन में अपने को बराबर एक दुर्भाग्य का शिकार समझता रहेगा। उसके मन में सभी तरह के सुख (जिसमें स्त्री पुत्र के सुख भी मौजूद हैं) की लालसा है, किन्तु उनकी तृप्ति का कोई दक्षिणमार्ग खुला न होने के कारण वह हरेक क्षेत्र में तृप्ति का वाम मार्ग अख़्तियार कर सकता है। अब तक उसमें केवल एक दोष था कि हठी तथा क्रोधी था, किन्तु अब हर तरीके से वंचित होने के कारण वह एक संभव (*potential*) चोर, संभव अप्राकृतिक अपराधी यह सब हो गया।" कष्ट सहने का असर, चाहे वह कष्ट शारीरिक हो या मानसिक, यह होता है कि कष्ट सहनेवाले के मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, साथ ही उसका हृदय बैठता जाता है। यह बैठ जाना चाहे मानसिक क्षेत्र में हो चाहे शारीरिक क्षेत्र में हो, यदि जारी रहा, तो उससे पतन हो जाता है। हम यह विश्वास करते हैं कुछ क्षेत्रों में कष्टसहन 'नैतिक अनुमति (*moral advancement*) का कारणस्वरूप हो सकता है, किन्तु ये क्षेत्र बहुत ही सीमित हैं। हम एक और पहलू से इस बात को देखें, यह तो स्पष्ट है कि चाहे हमारी नैतिक धारणा कुछ भी क्यों न हो, यह तो स्पष्ट है कि सभी अनैतिक आचरण में सज़ा का विधान नहीं है, और साथ ही बहुत से ऐसे कामों के लिये सज़ा मिलती है जिनको शायद ही कोई अनैतिक समझे, सिवा इसके कि बहुत से लोग कहेंगे राष्ट्र का कोई भी क़ानून तोड़ना अपराध है, क्योंकि सभ्यता तभी पैदा हो सकती है या टिक सकती है जब कि कोई समाज समाजिक सहयोग का सिद्धान्त ग्रहण कर ले। प्रत्येक

समाज के कुछ नियम रहने ही चाहिये। ग़लत या सही समाज इस सम्बन्ध में कुछ धारणायें रखता है कि क्या उसकी भलाई तथा स्थायित्व के लिये अच्छा है, क्या नहीं है। जिन कामों को वह अपने हक़ में बुरा समझता है, उनको वह सज़ा देकर भी रोकता है। यदि अपराधी को सज़ा देने के अलावा यह भी बात हो सके कि अपराधी भविष्य में पहिले से अच्छा नागरिक हो जाय, तो यह एक और अच्छी बात हुई। यदि हम इन बातों को मन में रक्खें तो हम बहुत से विचारों की गड़बड़ी से बचेंगे।'

जेल-पद्धति से क़ैदी की बिगाड़ न कि सुधार

'जेल-पद्धति जैसा कि वह रही है, उसके सम्बन्ध में यह कहना मुश्किल है कि उसमें कुछ सुधार करने का माद्दा या शक्ति है। कोई अहमक़ ही ऐसा कह सकता है कि जिस पद्धति के अन्दर आते ही एक आदमी के ऊपर शुरू से आखिर तक अभाव तथा अपमान की ताड़ना पड़ती है, जिस पद्धति में मामूली से मामूली मानवीय वृत्ति को जैसे पड़ोसी के साथ बैठकर खाना खाना, या बात करने के लिये भी सज़ा होती है, जिसके अधीन क़ैदी को ऐसा इकरस काम करना पड़ता है जिसमें कोई दिलचस्पी पैदा नहीं हो सकती, वह पद्धति मनुष्य को सुधार सकती है। इसी पुरानी जेल-पद्धति से क़ैदियों में क्षोभ तथा क्रोध की ही उत्पत्ति हुई, सुधार नहीं।'*

जेल-पद्धति से अपराध को उत्तेजना

हमने जिस पुस्तक से उद्धृत किया है उसमें यह भी है 'बहुत से अपराध तो आर्थिक कारणों से उत्पन्न होते हैं, किन्तु जो हमारे यहाँ सज़ा की पद्धति है उनसे भी अपराध उत्पन्न होते हैं। यदि

* *Prisons by Dr. Hamblin Smith, M.D., p.114.*

शिक्षा की विस्तृततर तथा गम्भीरतर पद्धति हो जिस पर विनाकिसी दरेग़ के व्यय धन का किया जाय, तथा बच्चों को कैसे चलाया जाय, उनको किस काम में लगाया जाय, इन वातों के निर्णय में वैज्ञानिक मदद (*child guidance and vacational clinic*) ली जाय तो बहुत से होनाहार अपराधी पहिले से ही घट जायँ, फिर इसके बाद जब अपराधी का पहले-पहल चालान हो, तो उसकी अच्छी तरह मनोवैज्ञानिक परीक्षा हों, तो उस मौके पर बहुत से अपराधी छूट जायेंगे। इन बातों का विरोध प्रति क्रियावादी तथा अपरिवर्तनवादी करेंगे, किन्तु इसका क्या, भूतकाल में भी ऐसे लोगों की नहीं चली, और अब भी नहीं चलेगी।* 'हमें तो अपनी जेलों से शर्म मालूम होती है। एक समाज का जिसको अपने संगठन के एक हिस्से पर लज्जा है, कभी भला नहीं हो सकता। खैर यह तब तक होता रहेगा जबतक कि हम क़ैदियों पर सारा दोष मढ़ने की चेष्टा करते जायेंगे।'† इस प्रकार हम देख चुके कि डा० हैम्बलिन स्मिथ की तरह व्यक्ति भी बहुत कुछ हद तक यह समझते हैं कि वर्त्तमान जेल-पद्धति अपराध को और बढ़ाती है।

जेल से अपराध बढ़ता है !

क़ैदी जेल में आने के बाद कई मामलों में और बुरा हो जाता है यह एक स्वाभाविक बात है। कितने क़ैदी दुबारा जेल आतें हैं इस बात से इसका पता नहीं लग सकता कि जेल-पद्धति कहाँ तक अच्छी है। बहुत से अपराध ऐसे होते हैं जो जीवन में दोबारा करने का मोक़ा ही नहीं लगता। मान लीजिये 'क' ने अपनी बीबी को एक दूसरे व्यक्ति के साथ लेटते हुए देख लिया, उससे यह न देखा गया, उसने न आव देखा न ताव, उठा कर पीतल का लोटा

* *Ibid*, *p. 143*

(†) *Ibid p. 146*

बीबी के सिर पर मारा, वह मर गई, प्रेमिक भाग गया, उसे दस साल की सज़ा हो गई। सज़ा काटने के बाद वह यदि फिर से शादी भी करे तो पहिली बात तो यह है कि ऐसी ही परिस्थिति उसके सामने शायद न आवे, दूसरी बात तो यह है कि शायद आने पर भी उसकी उम्र चूँकि ढल चुकी है उसमें शायद वह प्रतिक्रिया न हो, जो पहिले हुई थी। एक दूसरे तरह का उदाहरण लीजिये। ख अच्छा पहलवान था, कुश्ती लड़ते-लड़ते वह धीरे-धीरे डकैतों की सोहबत में पड़ गया, और उसको डकैती का चस्का लग गया। अब ख डकैती में पकड़ा गया, और उसे पचीस साल की सज़ा हो गई। ४४ साल की उम्र में २० साल असली काटकर वह निकला, उसकी तन्दुरुस्ती इतनी खराब हो चुकी कि वह अब डकैती के लायक़ न रहा। इसलिये उसमें चाहे डकैती की इच्छा हो तो भी वह अब डकैती नहीं करेगा। तो क्या क और ख के बारे में यह कहा जा सकता है कि जेल-पद्धति ने उनको सुधारा ? अवश्य ही नहीं, किन्तु इस प्रकार मामलों की गिनती करके ही दिखलाया जाता है कि इतने क़ैदी दुबारा आये, या नहीं आये। फिर जेल में न आने का यह भी कारण तो हो सकता है कि वह पहिले से अधिक बुद्धिमान हो गया, दूसरा यह भी हो सकता है कि उसने एक अपराध छोड़कर दूसरा शुरू किया हो। जेल से आने के पहिले एक व्यक्ति चोर था, किन्तु मैथुनिक किसी-प्रकार के अपराध से वह अपरिचित था, जेल में स्वाभाविक वासना की ताड़ना से उसने आत्मप्रणय (*Auto-erotism*) या अप्राकृतिक अपराध शुरू किया, बाहर जाकर चोरी तो फिर नहीं करता, किन्तु अपने नये पाठ को जारी रखता है, और चूँकि नया अपराध ऐसा है जो पकड़ में नहीं आता, वह जेल में नहीं आता। इन हालतों में क्या यह कहा जा सकता है कि अपराध घटा ?

एक दयारे के अन्दर जेल पद्धति का प्रयोग

फिर भी जैसा कि कई बार बतलाया गया कि कोई फ़ायदा न हो केवल, यही फ़ायदा रहे कि अपराधी और अपराध न कर सके तो भी यह कम फ़ायदा नहीं है। फिर भी इतने ही से हम खुश क्यों हो ? हम इसलिये चाहते हैं कि—

(१) जेल-पद्धति रहे।

(२) किन्तु उसका कम से कम प्रयोग किया जाय, इस प्रकार प्रयोग घटाने के ये उपाय हैं।

(क) जुर्माना किया जाय और जुर्माने को अदा करने के लिये अधिक से अधिक समय दिया जाय।

(ख) जहाँ तक हो सके शर्त पर छोड़ा जाय (*probation*) और छूटने के बाद फिर उनपर कड़ी देखरेख रहे।

(ग) बच्चों को तथा २० साल उम्र तक के लोगों को जेल न भेजकर किसी विशेष अनुशासन-संस्था जैसे बोरस्टालों में भेज दिया जाय, और वहाँ उन्हें विशेष तरह से ट्रेनिंग दी जाय।

(घ) मानसिक व्याधिग्रस्त (*neurotics*) तथा मानसिक रूप से त्रुटियुक्तों को छाँटकर पहिले से अलग कर दिया जाय।

(३) जेल में क़ैदी से बदला लेने की चेष्टा न हो, उस पर किसी भी हालत में इतनी सख्ती न हो कि वह सह न सके। प्रत्येक क़ैदी के साथ जहाँ तक हो सके वैयक्तिक (*individual*) व्यवहार दिया जाय। इसके लिये ज़रूरी यही है कि प्रत्येक जेल में डाक्टर के साथ ही मनोचिकित्सक (*psychiatrist*) रहे।

(४) ज्योंही ऐसा समझा जाय कि क़ैदी अब असामाजिक कार्य नहीं करेगा, और उसके सब स्वभाव साधारण हो गये (*habits have become normal*) त्योंही वह सहानुभूतिशील प्रोबेशन-अफ़िसर की देखरेख में छोड़ दिया जाय। उसको किसी भी हालत में बाहर बेकारी की हालत में न रक्खा जाय।

(५) यदि कोई कैदी कई बार मौक़ा दिये जाने के बाद भी सुधरता नहीं तो उसे छोड़ा ही न जाय।

(६) जेल में काम, खेल सब ऐसे हों जिसमें कैदी को दिलचस्पी हो।

(७) जेल में अधिक से अधिक स्वायत्तशासन कैदी को करने दिया जाय।

लोग इसी नतीजे पर पहुँच रहे हैं कि जेल को कुछ तरमीमो के साथ क़रीब क़रीब-बोर्डिङ्ग हौस बना दिया जाय, कैदी की आजादी नष्ट हो जाना ही काफ़ी सज़ा है। हाँ जो कैदी सही दिमाग़ होते हुए भी जेल में सामाजिक आदतें पैदा करने से हिचकें या इनकार करें उन्हें दिनरात कोठरी में रक्खा जाये, यहाँ तक कि ज़रूरत समझने पर बेंतों से (अवश्य उसकी सहनशक्ति को नाप कर) राहेरास्त पर लाया जाय। मैं यह समझता हूँ कि समाज का व्यक्ति के प्रति जो कर्तव्य है, उसमें इससे बाधा नहीं होती।

हम जेल-पद्धति के सम्बन्ध में अपनी आलोचना समाप्त कर चुके, किन्तु हम यहाँ इतना फिर बतलादें कि हमारी जेल पद्धति, यहाँ तक कि सारी सज़ाई (*penal*) पद्धति जिसमें अदालत, पुलिस, गवाह सभी मौजूद हैं यदि सुधर जायँ, तो भी अपराध बन्द नहीं होंगे। हमने बार-बार अपराध के साथ रोग की तुलना की है, तथा यह कहा है कि अपराधी के साथ यदि सख्ती की जाय, तो वह उसी दृष्टि से की जाय, जिस दृष्टि से रोगी के साथ की जाती है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह है कि रोगी का इलाज तभी अच्छी तरह हो सकता है जब रोगी और डाक्टर का पूर्ण सहयोग हो। यदि रोगी ने डाक्टर से लक्षण छिपाये, या ग़लत बताये, या नहीं बताये, तो इलाज में कठिनता पड़ेगी, इसमें शक नहीं, संभव है इलाज बिलकुल ठीक न हो, देरी तो होगी ही। रोगी का इलाज करने के लिये जैसे डाक्टर में इच्छा होना ज़रूरी है, वैसे ही अपराधी को

उठाकर नागरिक बनाने की तीव्र इच्छा पुलिस, अदालत जेल तथा के अधिकारियों में होना चाहिये। यहाँपर अच्छे तथा अपने काम में हुशियार अफ़सरों की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है।

समाज का मौलिक सुधार आवश्यक

फिर सबसे ज़्यादा हम जिस बात पर जोर देना चाहते हैं वह यह है कि अपराधी और जेल के अधिकारियों के बीच सहयोग का वातावरण उत्पन्न करने के लिये यह ज़रूरी है कि देश की समाजिक-आर्थिक पद्धति इस प्रकार परिवर्तित हो जाय कि उसमें सबको बराबर मौक़ा रहे। नहीं तो यदि अपराधी यह सोचता रहा कि उस पर बड़ा अन्याय हो रहा है, उसको सज़ा इसलिये नहीं मिल रही है कि उसने अपराध किया, बल्कि इसलिये मिल रही है कि शासक-श्रेणी में उसका कोई मित्र नहीं है इत्यादि, तो वह सुधार के सब तरीक़ों को शत्रुता के साथ लेकर व्यर्थ कर देगा। डाक्टर गिलिन लिखते हैं कि कभी-कभी अपराधी अपने अपराध को श्रेणी-संघर्ष के रूप में लेता है। हैवलाक इलिस ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि जिस समय चार्लस नवम के समय एक फ्रान्सीसी डाकू को फाँसी लगने जा रही थी, तो उसने कहा था कि उसने कभी भी ग़रीबों को नहीं लूटा उसने जब लूटा, तो पूँजीपतियों को लूटा, जो दुनिया के सब से बड़े डाकू हैं। दूसरे ने ऐसे ही मौके पर कहा 'हम ग़रीब चोर हैं, इसलिये फाँसी जा रहे हैं। किन्तु दूसरे जो हमसे अधिक दोषी हैं मजे में राज्य कर रहे हैं।' कहना न होगा कि इस प्रकार का वातावरण सुधार के लिये बिल्कुल अनुपयोगी है।

अपराध तथा पागलपन

मनुष्य का मन, दोषबोध, सज़ा

मनुष्य कैसा व्यवहार करता है यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी मानसिक अवस्था कैसी है। मनोवैज्ञानिकों ने चरित्रगठन कैसे होता है, तथा किस अवस्था में मनुष्य किस प्रकार का व्यवहार करता है, इस पर बहुत से प्रयोग किये हैं। यहाँ उनका विस्तृत वर्णन न तो संभय ही है न वाञ्छनीय, फिर भी वे जिस नतीजे पर पहुँचे हैं, वह यह है कि मानसिक रोग, (*neurosis*) वैपरीत्य, (*perversion*) और अपराध में बहुत समता है। ❀. दोषबोध (*sense of gui.lt*) कोई स्वाभाविक वृत्ति नहीं है, बच्चे में यह वृत्ति पैदा को जाती है। बच्चा जब बिल्कुल नासमझ होता है, तो वह पेशाब, टट्टी उसी तरह से फिरता है, जैसे वह खाता है। किन्तु धीरे-धीरे उसको सजा के डर से समझना पड़ता है कि टट्टी फिरकर इस प्रकार का आचरण करना चाहिये इस प्रकार का नहीं। जब एक निषिद्ध काम हो भी जाता है'तो दोषबोध उस समय बाहरी शक्ति के भय का स्वरूप ग्रहण करता है। (*the feeling of guiltis then the immediate expression of fear of that outer authority*) बचपन में जो सजायें बच्चे को दी जाती हैं उनके बहुत से रूप हो सकते हैं जैसे तकलीफ़ देना, खाना स्थगित करना, और सबसे अधिक उनसे प्रेम न करना। जिस समय बच्चा समझदारी के प्रारंभिक सोपान में पहुँच चुका है,

---

❀ '*Psycho.analysis and Criminology*' *by Paul Schiller, M. D., Ph. D.*

उस समय जब वह ग़लती करता है, तो उसमें एक दोषबोध (*sense of guilt*) पैदा होता है, यह तभी हटता है जब उसको सज़ा मिल चुकी है, और वह फिर माता-पिता का प्रेम प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह सज़ा की कामना करता है। इस प्रकार फ्रयेड और राइक के मतानुसार सज़ा की ज़रूरत है।❀ इसतरह डर के कारण बच्चा बहुत कुछ करने से रुकता है, जो वह दूसरी हालत में अवश्य करता। इस दृष्टि से देखने पर कोई भी नैतिकता (*morality*) ऐसी नहीं है, जो एक बाहरी कार्यकारिणी शक्ति (*executive power*) से लादी न गई हो। इसलिये इस सोपान में क़ानून और नैतिकता बच्चे के लिये एक होती है। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता है, जो अब तक उसके लिये बाहरी शक्तियाँ थीं, उनकी अहमिका (*ego*) के अन्तर्गत हो जाती हैं, अब यह वृहत्तर अहमिका (*super-ego*) उसी प्रकार निषेध करती है तथा तक़ाज़ा करती है जिस प्रकार पहिले बाहरी शक्तियाँ करती थीं; इस प्रकार अब उसमें बताया जाता है कि सच्ची नैतिकता पैदा होती है, और उसमें विवेक तथा सज़ा के भय से स्वतंत्र एक दोषबोध का उदय होता है। एसा होने के बाद सज़ा देने के लिये बाहरी शक्ति चाहे रहे, या न रहे, दोषबोध रह जाता है। †

मनोरोग और अपराध में सादृश्य तथा सामीप्य

जब बच्चे का परिपालन ऐसी परिस्थिति में होता है जिसमें समाज के क़ानूनों के लिये कोई श्रद्धा न हो, या कम श्रद्धा हो तो उसकी वृहत्तर अहमिका भी उसी तरीके की बनती है। हमने इस अध्याय के प्रारंभ में जिस विद्वान् का मत दिया है वे ही लिखते हैं कि इसलिये *The borderline between neurosis and crime is not*

❀ *Ibid.*

† *Ibid.*

always a sharp one, अ अपराध और मनोरोग में सीमारेखा हमेशा स्पष्ट नहीं होती । इसी तर्क को हद दर्जे तक पहुँचाकर कुछ लोगों ने यह सिद्धान्त निकाला है कि सभी अपराध की उत्पत्ति ... गड़बड़ी से हो ... । इसका उत्तर हम पहिले ही दे चुके, केवल उन्हें फ़िर से ... विवेचन के लिये हम छू भर देंगे। पहली बात तो यह है कि विशेषज्ञों के द्वारा अच्छी तरह परीक्षा किये जाने पर भी तीस फ़ीसदी से अधिक कैदी कभी भी मानसिक दृष्टि से असाधारण (*Abnormal*) नहीं पाये गये। इन असाधरणों में वे लोग भी शामिल हैं, जिनको मामूली तौर पर साधारण ही समझा जाता है, जैसे थोड़े बहुत मारोनिक (*Moronic*)। दूसरी बात यह है कि वृहत्तर अहमिका जो ढंग पर विकसित न होकर लोग मानसिक रूप से व्याधिग्रस्त या अपराधी हो जाते हैं, उसके लिये ज़िम्मेदार तो अन्तिम तौर पर सामाजिक-आर्थिक कारण होते हैं।

डाक्टर हीली की मानसिक परीक्षा-पद्धति

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका उससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही समाज का कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि बच्चों की देखरेख ढंग से की जाए। भारतीय जेल-कमेटी ने मानसिक-परीक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन किया था, उसकी रिपोर्ट में मानसिक-परीक्षा के कुछ तरीके गिनाये गये हैं। इनमें एक डाक्टर हीली का तरीका है, जो उन्होंने अपनी पुस्तक *Individual Delinquent* में प्रतिपादन किया है। डाक्टर हीली* के मतानुसार इतनी बातों पर अनुसन्धान करना चाहिये।

(१) पात्र ने जो शिक्षा पाई है उससे जहाँ तक मालूम किया जा सके पृथक पात्र की मानसिक योग्यता का पता लगाया जाय। इसका पता इस प्रकार लगाया जाय कि (क) पात्र की साधारण

* *Ibid.*

बुद्धि की सतह (*general intelligence*) क्या है (अवश्य यह उस हालत में जब कि साधारण बुद्धि‡ का अस्तित्व हो) ,(ख) पात्र की विशेष योग्यतायें क्या हैं। इस सम्बन्ध में खोज के लिये ऐसी योग्य-ताओं का पता लगाया जाय जो सामाजिक सफलता या असफलता से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि हम सामाजिक व्यवहार के बारे में पता लगा रहे हैं।

(२) पात्र को जो स्कूली शिक्षा दी गई, उसका नतीजा कैसा रहा ? विशेषकर नतीजे की अवस्था तथा विस्तार का पता लगाया जाय।

(३) क्या पात्र जब कभी सामंजस्यहीन मानसिक प्रक्रिया (*aberrational mental functionings*) का परिचय देता है ? यदि देता है तो यह बिलकुल *psychosis* के दर्जा तक पहुँचा हुआ है, या सीमारेखा पर (*borderline*) के मामलों (*cases*) में से है।

(४) पात्र की महत्त्वपूर्ण वैयक्तिक-मानसिक दिलचस्पियाँ क्या हैं ? इनका पता विशेषकर इन मदों पर लगाया जाय कि उन दिल-चस्पियों का विषय क्या है, किन बातों से वह चिढ़ता है तथा किन बातों को वह घृणा करता है इत्यादि ।

(५) क्या पात्र के भावुक (*emotional*) तथा नैतिक (*moral*) जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण चारित्रिक विशेषतायें हैं, जिनके कारण वह आवेग में आ जाता है या असाधारण आचरण करता है ?

(६) क्या पात्र को मानसिक या परिस्थितिक (*environmental*) किन्हीं अभिज्ञताओं में से इसके पहिले गुजरना पड़ा, जिनके कारण उसमें आन्तरिक संघर्ष (*inner conflict*) कामप्लेक्स (*complex*),

‡ अध्यापक शीयरमैन के अनुसार साधारण बुद्धि प्रत्येक व्यक्ति की

प्रतिबन्धक भाव (*inhibition*) तथा विरोधों (*resistances*) का उदय हुआ, जिससे कि उसके मानसिक जीवन की सन्तोषजनक तथा स्वास्थ्यकर प्रक्रिया में बाधा पड़ती है ?

इनमें से (३) से (६) तक जो प्रश्न हैं उनके निर्णय के लिये मनोचिकित्सक की जरूरत है। प्रथम तथा द्वितीय प्रश्न के उत्तरों का पता लगाने के लिये मानसिक प्रयोगों (*tests*) की जरूरत है। इन मानसिक प्रयोगों से व्यक्ति की साधारण बुद्धि (*general intelligence*) का पता लग जाता है, साथ ही यह भी पता लग जायगा कि वह साधारण (*normal*) है, साधारण से निम्नश्रेणी का है या साधारण से उच्च कोटि का है, जो कुछ भी है उसकी मात्रा क्या है, या मानसिक रूप से त्रुटिग्रस्त है।

बिनो-सिमों-पद्धति

डाक्टर हीली की उक्त पद्धति के अलावा उक्त जेल-कमेटी में एक और पद्धति का वर्णन था जिससे व्यक्ति के मन की परीक्षा हो सकती है। १६०४ में ए० बिनो और टामस सिमों (*A. Binot and Thomas Simon*) नामक दो मनोवैज्ञानिकों ने कुछ प्रश्नों को लेकर लड़कों पर प्रयोग शुरू किया। प्रश्न सरल से सरल तथा कठिन भी थे। बिनो और सिमों ने इस प्रकार प्रयोग करते-करते हरेक उम्र के लिये कुछ *norms* याने औसत प्रश्न का पता लगाया जिनका उस उम्र के बच्चों के लिये उत्तर देना संभव था। इन विद्वानों ने इन प्रश्नों पर इतने प्रयोग किये कि अब उनके लिये यह संभव हुआ कि वे लड़कों के सम्बन्ध में इन अस्पष्ट शब्दों को जैसे कुन्दजेहन, पिछड़े हुए इस्तेमाल न कर वे किसी लड़के के सम्बन्ध में कह सकते थे कि एक १४ वर्ष के लड़के का मानसिक विकास ८ वर्ष के लड़के की तरह हुआ है। इस प्रयोग के बाद अमेरिका में और प्रयोग भी हुए,

फलस्वरूप कुछ औसत प्रश्न हुए, और जो प्रश्न थे उनको और भी सम्पूर्ण किया गया।

दुर्बलचित्तता और अपराध

डाक्टर टरमान (*Termann*) ने अपनी पुस्तक "*The measurement of intelligence*" में कहा है कि जो लोग दुर्बलचित्त हैं वे इतनी आसानी से अपराध की ओर क्यों बढ़ते हैं? सरल से सरल तरीके से इसका जवाब यों दिया जा सकता है कि नैतिकता दो बातों पर निर्भर है, एक तो यह कि मनुष्य किसी काम का नतीजा उसके लिये तथा दूसरों के लिये क्या होगा यह जान सके, दूसरा यह कि वह आत्मसंयम के लिये इच्छुक तथा समर्थ हो। बहुत से बुद्धिमान अपराधी पाये जाते हैं, इसका कारण यह है कि किसी में प्रथम गुण तो है किन्तु दूसरा नहीं है, किन्तु दूसरे गुण का होना तभी संभव है जब पहिला गुण हो। दूसरे शब्दों में सभी अपराधी दुर्बलचित्त नहीं हैं, किन्तु सभी दुर्बलचित्त संभव (*potential*) अपराधी हैं। प्रत्येक दुर्बलचित्त (*feeble-minded*) स्त्री संभव (*potential*) वेश्या है इस बात में कोई सन्देह नहीं। नैतिक समझदारी (*moral judgment*) व्यापार-सम्बन्धी समझदारी या दूसरे किसी प्रकार की उच्चतर विचार-प्रक्रिया (*higher thought-process*) की तरह बुद्धि का ही करिश्मा है। यदि किसी की बुद्धि (*intelligence*) एक बच्चे की तरह रहे, तो वहाँ नैतिकता पुष्पित या पल्लवित नहीं हो सकती।❀

हमने विभिन्न विद्वानों का मत इस सम्बन्ध में इसलिये उद्धृत किया कि एक तो अपराध से मानसिक विकृति का क्या सम्बन्ध है यह दिखाना था, दूसरा हमारा मतलब यह था कि अपराध को एक बड़ी

❀*Report of the Indian Jail Committee* से उद्धृत

हद तक उसके द्वितीय उत्सस्थल पर कैसे रोका जा सकता है उसका एक अन्दाज़ा दिलाना था।

पागल ज़िम्मेदार नहीं

किस हद तक मानसिक रूप से व्याधिग्रस्त होनेपर व्यक्ति को अपराध के सम्बन्ध में ज़िम्मेदार न समझा जाय, इस विषय में मतभेद होने पर भी सभी सभ्य देशों में यह मान लिया गया कि पागल अपने किये हुए अपराध या अपराधों के लिये ज़िम्मेदार नहीं है। बहुत ही मोटे तरीक़े पर इस सम्बन्ध में इसकी जाँच करनी ज़रूरी है कि अपराधी अपने अपराध का नतीजा क्या है जानता है कि नहीं। इङ्गलैंड में १८४३ से अपराध के अभियोगों में पागलपन (*insanity*) की परिभाषा मोटे तौर पर यह रही है कि अभियुक्त "यह नहीं जानता था कि जो काम उसने किया उसकी प्रकृति (*nature*) तथा गुण (*quality*) क्या था। और यह भी नहीं जानता था कि यह ग़लत है।" यदि यह परिभाषा बहुत ही कड़ाई से बरती जाय तो इसमें केवल सम्पूर्ण पागल (*Gibbering idiot*) ही आ सकता है, क्योंकि औसत दर्जे के पागल को उचित-अनुचित का ज्ञान काफी रहता है, और यदि कोई इतना पास रहता है कि उसे रोक सके, तो वह उस काम को नहीं करता है।

डैनियल मैकनागटेन का मामला

१८४३ की क़ानूनी परिभाषा डैनियल मैकनागटेन (*Daniel Mc Naghten*) के मुक़द्दमे के बाद हुआ। उसने सर राबर्ट पील के प्राइवेट सेक्रेटरी मिस्टर ड्रमन्ड को दिनदहाड़े मार डाला था। इसमें तो कोई सन्देह नहीं था कि उसका दिमाग़ सही नहीं था, क्योंकि वह समझता था कि उसने जिसे मारा वह सर राबर्ट पील ही थे। जब अभियुक्त की ओर से यह कहा गया कि

वह पागल है तो सरकार की ओर से इसका विरोध नहीं किया गया, इसलिये चीफ जस्टिस टिन्डाल ने डेनियल को बरी कर दिया, और वह न्यूगेट जेल से बेथलेहम अस्पताल में भेज दिया गया।❀

पागल की परिभाषा

इस मुक़द्दमे की ओर सार्वजनिक दिलचस्पी इतनी गई कि लार्ड-सभा ने इस पर सब जजों की [illegible] माँगी कि इससे किस-किस वैधानिक प्रश्न का सम्बन्ध [illegible] खोज के फलस्वरूप ग्यारह जजों ने यह कहा कि पागलपन की सफ़ाई अभियुक्त को छोड़ देने के लिये यथेष्ट है, यदि यह [illegible] हो कि "अभियुक्त का मस्तिष्क इतना विकृत था कि वह [illegible] कर रहा था, उसके गुण तथा प्रकृति से अपरिचित था, [illegible] वह परिचित भी [illegible] तो वह यह नहीं जान सकता था कि वह [illegible] काम कर रहा था।

पागलपन का [illegible]

अब तो क़ानून में इस बचत (*loop hole*) का फ़ायदा उठाने के लिये हत्या के हरेक मुक़द्दमे में पागलपन का बहाना सफ़ाई की ओर से पेश किया जाता है, किन्तु इस [illegible] पता लगाने के लिये कि अभियुक्त वाक़ई पागल है या नहीं, उसको डाक्टरों के नहीं बल्कि कुछ असेसरों के सुपुर्द कर दिया जाता है। इस निर्णय के लिये जो लोग चुने जाते हैं उनकी संख्या बारह होती है। कहना न होगा कि यह बड़ी अजीब बात है कि साधारण (*laymen*) लोगों को एसी विशेषज्ञ राय देने के लिये कहा जाता है। डाक्टर बर्नार्ड हलैंडर ने अपनी '*Psychology of misconduct*' नामक पुस्तक में ठीक ही कहा है "कोई पागल है या नहीं इसके निर्णय का भार ऐसे लोगों की राय पर छोड़ देना जो मनोविज्ञान के विशेषज्ञ

❀*Criminology by Horace Wyndham*, *p. 45.*

न हों, बिलकुल बुद्धि के साथ जबर्दस्ती है।" होरेस विन्डहैम साहब इसी विषय पर कहते हैं "मेरी समझ में तो जनता का औसत आदमी बुद्धिमान नहीं है (*unintelligent*), इस कारण इतने कठिन प्रश्न का निर्णय उनके ऊपर छोड़ने का तरीक़ा समझ में नहीं आता। फिर भी यह समझने की जरूरत है कि क़ानून जब तक नहीं बदलता तब तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि क़ानूनन जूरी (*Jury*) साधारण लोगों की होनी चाहिये किन्तु विशेषज्ञों की जूरी एक विशेष जूरी होगी।" ❀

पागल क़रार दिये जाने पर व्यवस्था

जिस समय किसी प्रमाणित पागल से कोई अपराध सरज़द हो जाता है, उस समय उसको "दोषी किन्तु पागल" क़रार दिया जाता है। उस हालत में उसको न फाँसी दी जा सकती है न जेल भेजा जा सकता है, जेल में ऐसे लोगों के लिये कोई जगह नहीं। उसे अपराधियों के लिये नियत पागलखाने में भेजा जाता है, और तब तक बन्द रक्खा जाता है जब तक कि सम्राट की इच्छा हो (*during His Majesty's pleasure*)। इसके लिये ब्राडमर (*Broadmoor*) तथा बर्कशायर (*Berkshire*) दो जगह इङ्गलैंड में नियत है, यहाँ वे लोग तो भेजे ही जाते हैं जो अपराध करते समय भेजे जाते हैं, साथ ही वे लोग भी जो अपराध करते समय तो ठीक थे, किन्तु उसके बाद किसी समय पागल हो गये। जो लोग अपराध करते समय ठीक थे, किन्तु बाद को पागल हो गये, वे तभी तक इसमें रक्खे जाते हैं, जब तक ठीक न हों, बाद को वे वापस जेल भेज दिये जाते हैं। ब्राडमूर अपराधियों के लिये पागलखाना १८६३ में क़रार दिया गया, किन्तु इस प्रकार की संस्थायें पहिले और थीं। बेथलेहम अस्पताल जिसे लोग आम तौर से बेडलैम कहते हैं, इस काम

❀ *Ibid p. 46.*

के लिये १८१५ में ही नियत किया जा चुका था। स्काटलैंड तथा आयरलैंड के 'दोषी किन्तु पागलों' के लिये क्रमशः पर्थ तथा डन्ड्रम (*Perth and Dundrum*) नियत है।

पागलखाने

पागलखानों में भी जेलों की तरह पहले बदले का सिद्धान्त चलता था। १७६८ के पहिले पागलों को ज़ंजीरों से लादकर रक्खा जाता था, इसके भी पहिले तो पागलों को भूतप्रेतों से सम्बन्ध-युक्त (*in communion with evil spirits*) समझकर जला दिया जाता था। १७६२ में पिनेल (*Pinel*) ने सालपेत्रियेर (*Salpetriere*) पागलखाने के पागलों की ज़ंजीरें खोल दीं। १८१५ में पार्लियामेन्ट की ओर से बेथलेहम अस्पताल की हालत की जाँच करने के लिये एक कमेटी बैठाई गई, उसने इसकी हालत बहुत ही भयानक पाई। बेथलेहम में देखा गया रोंगटे खड़े कर देनेवाली गंदगी है, "भयंकर कोठरियाँ हैं", पागलों को ज़ंजीरों से बाँधा जाता है, और तरह तरह से यन्त्रणा देने के कमरे (*torture-chamber*) बने हुए हैं। १८४० तक पश्चिमी यूरोप के अधिकांश पागलखाने जेलों की तरह थे, और उनमें जो अभागे पहुँच जाते थे, उनके साथ ऐसा बर्ताव होता था, जैसे वे कोई भयंकर अपराधी हों। उन्नसवीं शताब्दी के मध्यभाग की ओर पागलखानों के सुधार की ओर ध्यान गया, और तब से डाक्टरों ने प्रेम तथा बुद्धि-युक्त सहानुभूति (*intelligent sympathy*), पर अधिक से अधिक और कड़ाई तथा रोक पर कम निर्भर किया है। सीब्रुक (*W. A. Seabrook*) की *Asylum* नामक पुस्तक में पागलों के लिये क्या-क्या इन्तज़ाम है, इसका मनोज्ञ वर्णन किया गया है। पिनेल के पहिले के पागलखानों के साथ आजकल के पागलखानों की तुलना की जाय तो मालूम होगा कि इस दिशा में क्या-क्या तरक्क़ियाँ हुई हैं।*

***Ends and means by Eldons Huxley, p. 142.*

आंशिक पागल, आंशिक सही-दिमाग

पागल पागल सब एक तरह के नहीं होते। किसी-किसी विषय पर तो बिलकुल पागल, किसी-किसी विषय पर बिलकुल सही दिमाग ऐसे बहुत से पागल पाये जाते है। ब्राडमूर में हर तरीके के पागल रक्खे जाते हैं। एक समय उसमें एक ऐसा पागल था जिसने आक्सफोर्ड अँग्रेजी कोष के संपादकों के पास सैकड़ों अत्यन्त कठिन शब्दों की उत्पत्ति (*etymological definition*) लिख भेजा, ये इतनी अच्छी थी कि संपादकों ने इनको सहर्ष स्वीकार किया। फिर भी यह व्यक्ति पागल था इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि इसने पागलपन के एक दौरे के समय एक घृणित तथा उद्देश्यहीन हत्या की थी। यदि यह बात निःसन्देह रूप से प्रमाणित न होती कि वह पागल है तो इस हत्या के लिये उसे फाँसी हो जाती।❀

पागल अपराधियों के सम्बन्ध में माञ्चिनि (*Mancini*) नामक इटालियन अपराधविज्ञानी का कहना है कि यह जो पागल अपराधियों के लिये अलग पागलखाने (*criminal asylums*) हैं, ये नहीं होने चाहिये। क्योंकि यदि वे पागल हैं पागलखानों में भेजे जायँ, और यदि वे अपराधी हैं, तो वे तो जेलों में भेजे जायँ। मिस्टर विन्डहैम के मतानुसार यह तर्क बिलकुल गलत है। वे कहते हैं कि बार-बार ऐसा देखा गया है कि जिन पागलों में निःसन्देह रूप से अपराध करने की प्रवृत्ति है, उनको ढंग से ताले-चाभी के अन्दर न रखने के कई बार भयंकर नतीजे हुए हैं। इस मामले में अवहेलना के फलस्वरूप उनके मतानुसार लुईगि लुकेनि ने अस्ट्रीया की सम्राज्ञी की, सान्टो कासेरिओ (*Casereo*) ने राष्ट्रपति कार्नो (*Carnot*) की, चार्लस् गितो (*Charles Guiteau*) ने गारफील्ड की, विल्कस बूथ (*Wilkes Booth*) ने राष्ट्रपति लिंकन की, लिओन

❀*Criminology by Horace Wyndham, p. 47.*

कसोलगोज़ (*Leon Cazolgoz*) ने राष्ट्रपति मैककिनैले की, जान बेलिङ्हैम ने स्पेन्सर पर्सिवल की हत्या की। इसी प्रकार रानी विक्टोरिया तथा दूसरे लोगों पर इसी कारण हमले हुए।

महारानी विक्टोरिया पर हमले

महारानी विक्टोरिया पर जिन्होंने हमले किये, पागल माने जाते हुए भी उनपर जो सख्ती की गई उसका विरोध सर जेम्स फिट्ज़जेम्स स्टिफेन की तरह अत्यन्त सख्त समझे जानेवाले जज को भी इन शब्दों में करना पड़ा "महारानी के राज्य काल के प्रारंभ में आक्सफोर्ड तथा फ्रान्सिस नामक दो बेवकूफ़ लड़कों ने महारानी के ऊपर पिस्तौलें चलाईं। एक के साथ बड़ी निर्दय दया यह की गई कि उसे राजद्रोह से इस कारण बरी कर दिया गया कि वह पागल है, और यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह सही दिमाग़ था, उसे अपराधियों के पागलखानों में तीस वर्ष से ऊपर क़ैद रक्खा गया। दूसरे लड़के को फाँसी की सज़ा सुनाई गई, किन्तु इसे घटाकर आजीवन कारावास की सज़ा कर दी गई। × × × आक्सफोर्ड को जो सज़ा मिली, वह इङ्गलैंड में सबसे सख्त थी।" इस सम्बन्ध में एक बात विशेष द्रष्टव्य है, वह यह कि यद्यपि फिट्ज़जेम्स स्टिफेन ने लिखा है कि आक्सफोर्ड निःसन्देह रूप से सही दिमाग़ था, किन्तु होरेस विन्डहैम का कहना है "इस सम्बन्ध में जो गवाहियाँ मिली हैं, वह बिलकुल इस बयान के विपरीत है। उसके परिवार में पागलपन का इतिहास था, और उसका बाप पागलखाने में था। आक्सफोर्ड की उम्र १६ थी, और वह एक शराबखाने में शराब परोसने पर नौकर था। उसका स्वभाव अजीब था, और उसमें ख्याति का एक मर्ज़-सा था। उसने "नौजवान इङ्गलैंड" नामक एक सभा की स्थापना की थी, इस सभा के सदस्यों की वर्दी विचित्र थी, तथा हरेक का उपनाम अजीब

अजीब था। १८४० के अप्रैल की एक शाम के समय वह बकिंघहम प्रासाद के पास प्रतीक्षा कर रहा था। जब महारानी और राजकुमार अल्बर्ट उसके पास से सवारी पर जा रहे थे, तो उसने गाड़ी पर दो गोली चलाई। दोनों गोली खाली गई, और राहगीरों ने उसे पकड़ लिया। जिस समय उसका मुक़द्दमा चल रहा था, उस समय उसके व्यवहार से साफ़ पता चल गया कि वह पागल है।"* इसके दो वर्ष बाद फ्रान्सिस नामक एक युवक ने भी इसी प्रकार महारानी पर फिर हमला किया, किन्तु उसके मामले में पागलपन का बहाना पेश किया नहीं गया, और उसको फाँसी की सज़ा हुई, किन्तु अन्त तक यही सज़ा रही कि जब तक जीता रहे जेल में रहे। †

पागल की परिभाषा का विस्तार

डैनियल मैकनागटेन के मामले से पागल की जो क़ानूनी परिभाषा हुई वह अस्सी साल तक चली, किन्तु १६२२ में लार्ड चैन्सेलर ने इस परिभाषा में तरमीमों की सिफ़ारिश करने के लिये एक जाँच कमेटी मुक़र्रर की। इस कमेटी ने परिभाषा को कुछ विस्तृत किया। इस नई परिभाषा के अनुसार एक व्यक्ति किसी अपराध के लिये दोषी क़रार नहीं दिया जा सकता, याने उसे सज़ा नहीं दी जा सकती जब कि यह प्रमाणित हो कि उसके दिमाग़ में खलल है, और वह खलल इस प्रकार का है कि एक विशेष काम के सम्बन्ध में उसको इतना अनियन्त्रणीय जोश (*uncontrollable impulse*) आता है कि वह जान ही नहीं पाता कि वह क्या कर रहा है। बहुत से धनी घर की औरतें ऐसी होती थीं जो दूकानों में जाती हैं तो छोटी-मोटी चीज़ चुरा लेती हैं, कुछ पुरुष अपरिचित औरतों में घुसकर बैठ जाते हैं, ऐसे लोगों को जेल

---

* *Criminology by Wyndham, p. 48.*

† *Ibid.*

भेजने पर कुछ फ़ायदा नहीं, इसलिये अब इनको पागलखानों में भेजा जाता है, और जिन शर्तों पर पागल छोड़े जाते हैं उन्हीं शर्तों पर वे छोड़े जाते हैं याने जब उनके घर वाले उनकी पूरी ज़िम्मेदारी लेते हैं। ‡

भारत के पागलखाने

केवल पागलपन में ही नहीं प्रत्येक अपराधी की बाक़ायदा मानसिक जाँच करनी ज़रूरी है, विशेषकर बाल-अपराधियों की जाँच तो बहुत ही आवश्यक है। हम भारतीय जेल-पद्धति की जाँच करते समय देखेंगे कि भारतवर्ष में अपराधियों की मानसिक जाँच के लिये कुछ किया ही नहीं गया है। पागल यदि कोई अपराध करे तो वह ताज़ीरात हिन्द के दफ़ा ८४ के मुताबिक उसके लिये दोषी क़रार नहीं दिया जा सकता, किन्तु बस इसके आगे यहाँ की सरकार की पहुँच नहीं है। पागलखाना हमारे विषय से बाहर है, किन्तु दो-चार पागलखाने जहाँ एंग्लो इंडियन या गोरे रहते हैं, वे ही यहाँ भी आधुनिक सिद्धान्त पर चलाये जाते हैं। राँची के पागलों में पहिले स्त्री-पुरुष बिलकुल अलग-अलग हिस्सों में रहते थे, किन्तु सुप्रसिद्ध मनोचिकित्सक कर्नल बर्कले हिल ने इन दोनों विभागों में दिन में आमदरफ़्त जारी कर दिया, और बताया जाता है इसका नतीजा अच्छा हुआ है। भारतीयों के लिये जो पागलखाने हैं उनमें और जेलों में कोई विशेष प्रभेद नहीं है।

मानसिक जाँच का महत्त्व

हमने एक हद तक यह दिखला दिया कि पागलों तथा अपराधियों की समस्या एक बड़ी हद तक एक है, इसलिये स्पष्ट है कि जेलखानों के साथ-साथ पागलखानों का सुधार भी आवश्यक

‡ *Ibid, p. 50.*

है। केवल यही नहीं, जैसे हरेक बच्चे को टीका लगवाना समाज का कर्त्तव्य-सा हो गया है, उसी प्रकार उसके प्रत्येक सदस्य की मानसिक जाँच तथा इलाज उसके कर्त्तव्य के अन्तर्गत हो जाना चाहिये।

अपराधी में मानसिक बचपन का उदाहरण

पुलिस जो अक्सर अपराधियों का बहुत आसानी से पता पा लेती है, इसका कारण यदि हम देखें तो यह नहीं है कि पुलिस बहुत मुस्तैद है, बल्कि यह कि अक्सर अपराधी पूर्णबुद्धि (*sane*) नहीं होते, और ग़लती कर जाते हैं। एक उदाहरण लिया जाय। अभी प्रतापगढ़ जेल में रहते समय मुझे एक विचाराधीन क़ैदी से मिलने का मौक़ा मिला, उसने अपने चाचा की हत्या इस ख़्याल से की थी कि उसके बाद जायदाद उसे मिलेगी। उसे पूछने पर मालूम हुआ कि वह स्वयं छोटा जमींदार था, किन्तु इस बात पर सन्तोष न कर वह चाचा की जायदाद से अपनी जायदाद को बढ़ाना चाहता था। वह हत्या करते हुए पकड़ा गया, इसके लिए हम उसे पागल, दुर्बल-चित्त या क्षीणबुद्धि (*feeble-minded*) नहीं कहते। उसने हत्या के कार्य में जो कुछ बुद्धि का परिचय दिया, उसका ज़िक्र भी हमारे विषय से बाहर है, हम केवल इसी बात पर ताजुब करते रहे कि उसने यह कैसे सोचा कि यदि उसने अपने चाचा को मार भी लिया, और उसपर किसी ने सन्देह नहीं किया, तो जायदाद उसे ही मिलेगी, क्योंकि चाचाके एक नहीं, दो नहीं, चार लड़के थे। मैंने जब यह बात उससे कही तो उसने कहा कि इस दृष्टि से उसने कभी सोचा ही नहीं, और बहुत पछताने लगा। अब इतनी मोटी-सी बात जिसने नहीं देख पाया, उसको केवल अपराधी हम नहीं कह सकते, इसमें मानसिक विकृति का सवाल जरूर आता है। यदि उसका दिमाग़ सही होता और वह

सारी बातों का हिसाब लगा पाता, तो वह शायद इस अपराध को कभी न करता, क्योंकि लड़कों के साथ चाचा को मारकर और बच जाने की असंभवता शायद वह भी समझ जाता। बिनोसिमों की पद्धति से जाँच करने पर शायद पता लगता कि इस व्यक्ति का मन दस या ग्यारह वर्ष के लड़के से अधिक विकसित नहीं हुआ।

सामाजिक-आर्थिक कारण ही मौलिक

हमने इस अध्याय में मानसिक पहलू पर अधिक ज़ोर दिया, और यह कहा कि मन की जाँच तथा चिकित्सा की जरूरत है, फिर भी इस बात को यहाँ फिर याद दिलाना चाहिये कि इन बातों का करना जरूरी होते हुए भी मन और मानसिक कारण द्वितीय कारण ही हैं। हैं वे महत्त्वपूर्ण, उनको दूर करना भी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु असली तथा प्राथमिक कारण सामाजिक-आर्थिक ही हैं, उनको दूर किये बग़ैर ऊपर की लीपापोती से कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हो सकता, और अपराध के विरुद्ध हमारी लड़ाई अधूरी ही रहेगी।

वेश्या-वृत्ति तथा अपराध

वेश्या की परिभाषा

धन के लिये मैथुन करने देने को वेश्यावृत्ति कहते हैं। वात्स्यायन ने धन के लिये मैथुन करने देनेवाली स्त्री को वेश्या और कामुकता के कारण मैथुन करने देनेवाली को भ्रष्टा माना है। प्रत्येक सभ्य समाज की दृष्टि में यह दोनों बातें निन्दनीय है, किन्तु मज़े की बात है कि मामूली अपराधों से अधिक निन्दनीय समझे जाने पर भी वेश्या बनना या वेश्या-गमन करना दोनों किसी ज़माने में भी क़ानून द्वारा रोके नहीं गये। इस प्रकार वेश्यावृत्ति तथा वेश्यागमन हमेशा क़ानूनी रहे।

स्वर्ग में भी अप्सरा तथा हूर

वेश्या अब तक के प्रत्येक समाज का एक आवश्यक अंग रहा है, यहाँ तक कि स्वर्ग की कल्पना में अप्सरा तथा हूरों का स्थान है। अप्सराओं के द्वारा देवता लोग केवल अपनी वासना को ही चरितार्थ नहीं करते थे, बल्कि कभी-कभी उनसे बड़ा काम निकालते थे। एक दफ़े विष्णु तपस्या करने लगे, तो इन्द्र घबड़ाये कि कहीं यह मेरा इन्द्रत्व तो नहीं छीनना चाहते। बस उन्होंने उर्वशी को विष्णु का तपोभंग करने के लिये भेजा। उर्वशी अपने काम में सफल हुई। मेनका ने इसी प्रकार विश्वामित्र का तपोभंग किया, और इसीसे शकुन्तला पैदा हुई। तिलोत्तमा ने देवताओं के ऊपर अत्याचार करनेवाले सुन्द उपसुन्द नामक दो भाइयों को लड़वा दिया, इस प्रकार उसी के कारण स्वर्ग निष्कंटक हुआ। ऐसी कितनी ही कथायें हैं।

वेश्याओं से अपराध का निकट-सम्बन्ध

वेश्यावृत्ति अपराध क्यों नहीं है इस पर हम फिर आलोचना करेंगे, किन्तु अन्य अपराधों के साथ इसका बहुत निकट सम्बन्ध है। आम तौर से कहा जाता है कि जितने लड़ाई-बखेड़े होते हैं उन सबके पीछे जर, जन या जमीं होती हैं। पुलिसवाले इस बात को बहुत समझते हैं इसीलिये किसी अपराध के उद्देश्यों की खोज करते हुए वे इन्हीं को ख्याल में रखते हैं। वेश्यायें जिन मुहल्लों में बसती हैं, पुलिस उनपर बहुत कड़ी निगरानी रखती है, इस निगरानी का कारण यह नहीं कि वे वेश्यावृत्ति पर रोकटोक रखना चाहते हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि वे समझते हैं कि जो लोग वेश्याओं के पास जाते हैं उनमें अपराधियों की संख्या अधिक होती है। बहुत से अपराधों का सुराग तो सचमुच वेश्याओं के मुहल्ले से लगा है, अक्सर अपराधी वेश्याओं के मुहल्ले में और वेश्याओं के ज़रिये गिरफ्तार भी हुए हैं।

वेश्यावृत्ति के कारण पर वात्स्यायन

जो समाज जेलों तथा पागलखानों को क़रीब-क़रीब इतना सुधारेगा कि वे एक विशेष तरीक़े के अस्पताल मात्र रह जायँ, वह समाज न वेश्याओं के मुहल्लों को रहने दे सकता है न वेश्या-प्रथा को ही टिकने दे सकता है। अब हम वेश्यावृत्ति के कारणों की ओर देखें तो पाते हैं कि वात्स्यायन ने सतीत्व नष्ट होने के ये कारण बताये हैं :—

(१) इधर-उधर घूमना तथा लोगों से मिलना-जुलना
(२) रोकटोक का अभाव
(३) पति का चरित्रदोष
(४) पर पुरुषों से असावधानी से मिलना
(५) पति की बहुत दिनों तक लगातार अनुपस्थिति

(६) विदेश में रहना
(७) पति द्वारा पत्नी के प्रेम तथा भावुकता पर आघात
(८) पतित स्त्रियों का साथ
(९) पति की ईर्ष्या❀

वात्स्यायन ने बड़ी आसानी से इस प्रश्न को सुलझा लिया, किन्तु जो कारण उन्होंने दिखाये हैं उनमें से कई तो वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं रखते, और उनसे हमें यही पता लगता है कि उस ज़माने के शरीफ़ पुरुषों का इस विषय पर क्या मत था। जो कारण दिखलाये गये हैं उनमें से नं० (१), (२) (४), (६) का आशय स्पष्ट है, और वह आशय यह है कि स्त्रियों को कभी स्वतंत्रता न दी जाय। एक पुरुष-शासित पिछड़े हुए समाज से और क्या आशा की जा सकती है ?

वात्स्यायन आज भी हैं

यह समस्या उतनी आसान नहीं है जितना वात्स्यायन समझते हैं। फिर भी जिससे वात्स्यायन के प्रति अन्याय न हो, इसलिये यह बता देना ज़रूरी है कि उनकी तरह सोचनेवाले व्यक्तियों की आज भी कमी नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है, वह यह कि जहाँ तक पुरुष-शासित समाज के सदस्य होने का सम्बन्ध है वात्स्यायन और आज के लाल बुझक्कड़ों में कोई विशेष प्रभेद नहीं है। ऐसे लोग बस यही कहते हैं कि औरतों पर ठीक-ठीक निगरानी रक्खो, सब काम ठीक रहेगा। वे वेश्यावृत्ति के गहरे कारणों को समझने में असमर्थ हैं।

वेश्यावृत्ति के कारणों की खोज

इस सम्बन्ध में जो खोजें की गई हैं, उनका उल्लेख हम पहिले करते हैं। नीलैंड ने अमेरिका के न्यूयार्क शहर की वेश्याओं में

❀ *'Prostitution in India' by Santosh Kumar Mukerjee.*

से ६४७ का विशेष अध्ययन किया। वेश्या होने के पहिले इनमें से ३७ फ़ी सदी नौकरानियाँ थीं, २० फ़ी सदी मज़दूरनी (*factoryop-eratives*) थीं, ६ फ़ी सदी से अधिक क्लार्क थीं, और १४ फ़ी सदी का कोइ पेशा नहीं था। दूसरी संस्थाओं में ६६२ वेश्याओं का अध्ययन करने पर यह पता लगा कि १०॥ फ़ी सदी क्लार्क थी, एक तिहाई मज़दूरनी थीं, और १८ फ़ी सदी नौकरानियाँ थीं। इससे स्पष्ट है कि जिन लड़कियों को किसी हुनर या पेशे की शिक्षा नहीं होती, और जो बहुत कम तनख़्वाह पाती हैं, वे आसानी से वेश्या हो जाती हैं।❀

आर्थिक या अन्य कारण

इस प्रकार नीलैंड के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वेश्यावृत्ति का मौलिक कारण आर्थिक है, किन्तु लोम्ब्रोसो, फेरेरो (*Ferrero*) टार्नोवस्काया (*Tarnowskaya*), ज़ेमबर्ग (*Sohmberg*) और मिस डैविस इस बात को नहीं मानती। जेन ऐडमस ने *New conscience and an ancient evil* में लिखा है "यद्यपि अदालतों में बार-बार गवाहों ने वेश्यावृत्ति के कारण के रूप में आर्थिक दबाव पर ही ज़ोर दिया है, इसमें सन्देह नहीं कि यह कारण अतिरंजित है। एक लड़की हमेशा यह सोचना पसन्द करती है कि उसके पतन का कारण आर्थिक दबाव ही रहा है, यहाँ तक कि जब उसके पतन का कारण केवल आरामतलबी, अलंकारों तथा सुन्दर वस्त्रों के लिये आग्रह, तथा बुरी सोहबत थी।"

अति थकावट का परिणाम ?

जेन ऐडमस और आगे चलकर कहती है "मिल में काम करते

❀*From Kneeland's "Commercialised prostitution in New York City" as quoted by Dr. Gillin's "Criminology"*

करते जो थकावट आती है, उससे न केवल शरीर ही खराब होता है, बल्कि प्रतिरोध का नैतिक-बल (*moral resistance*) भी टूट जाता है। ज्यों-ज्यों हम मन तथा स्नायु (*nerve*) पर अति थकावट का क्या परिणाम होता है जानते जायेंगे, त्यों त्यों हम जान जायेंगे कि बहुत से नैतिक पतन का कारण यही अति थकावट है। कुछ खास मामलों में तो यह सम्बन्ध अभी से स्पष्ट है। अक्सर लड़कियाँ अपनी परिस्थिति को साफ़ करती हुई कहती पाई गई है 'मैं इतनी थक गई थी कि मुझे परवाह ही नहीं थी कि क्या हो रहा है', 'मैं थककर चूर हो गई थी और मैं सभी बातों से परेशान हो चुकी थी', 'मैं थकान के मारे मर रही (*dog tired*) थी, और योंही उसके साथ चली गई।'

नीलैंड आदि के अध्ययन

नीलैंड ने २७६ वेश्याओं का एक अध्ययन और किया, उनमें से १०८ याने ३८·७१ कहा कि उनका पहिला पदस्खलन उस व्यक्ति के साथ हुआ, जिसे वे चाहती थीं। क़रीब २२ फ़ी सदी ने यह कहा कि पहिली बार तो उन पर बलात्कार किया गया था। बौनहेफ़र (*Bonhoffer*) ने १८० वेश्याओं का अध्ययन मानसिक-दृष्टि से किया तो उनमें से एक-तिहाई मानसिक रूप से त्रुटियुक्त थीं। फ्लेक्सनेर ने "*Prostitution in Europe*" में दिखलाया है कि जब वेश्यावृत्ति एक व्यापार के तरीक़े से चलने लगी, तो उसमें वे सब बातें आगई जो व्यापार में चलती हैं। दलाल लोग कोशिश करके इसकी माँग को बढ़ाते हैं, जहाँ माँग है वहाँ माल पहुँचाते हैं, और इसकी व्यवस्था करते हैं कि माल का आना बराबर जारी रहे। इसके लिये वे लड़कियाँ भगाते हैं, लड़कियाँ खरीदते हैं, उनको प्रलोभन देते हैं इत्यादि। कभी-कभी तो नौकरी दिलाने की आशा दिलाकर बुलवाकर उस पर बलात्कार किया जाता है। २० फ़ी सदी मामलों में तो देखा गया

कि शराब वश्यावृत्ति के लिये जिम्मेदार है।❋ फ्राउलाइन एल्गा केर्न ने अपनी पुस्तक *Wie sie dazu kommen* नामक पुस्तक में क़रीब चालीस वेश्याओं का जो अध्ययन प्रकाशित किया, वह इस सम्बन्ध में बड़ा ही दिलचस्प है। वे बर्लिन की वेश्याओं के घर-घर गईं, उनमें अपने लिये विश्वास पैदा किया और इस प्रकार उनके जीवन का पूरा पता लगाया। वेश्याओं से पूछने के लिये उन्होंने एक प्रश्नावली तैयार की थी, उसी के आधार पर वे खोज करती थीं। इन प्रश्नों में कुछ ये हैं—

(१) सबसे पहिली बार तुमने मैथुन कब किया?

(२) तुमने ऐसा कैसे किया? रुपया लेकर, कुछ और लेकर, ज़बर्दस्ती या किसी और दबाव में आकर?

(३) पहिले-पहल रुपया लेकर कब मैथुन किया?

(४) तुम किसी से प्रेम करती थी? तुम्हें प्रेमिक ने धोखा दिया?

(५) तुम्हें अब मैथुन में कुछ आनन्द आता है? यदि हां, तो पहिले जब तुम वेश्या नहीं थी, उस ज़माने की तुलना में वह कितना कम है?

(६) तुम शराब पीती हो, और कोई नशा करती हो? तुम्हारे वेश्या होने से नशे से क्या सम्बन्ध है?

(७) तुम ईश्वर में विश्वास करती हो? प्रार्थना करती हो या धर्मपुस्तक पढ़ती हो?

(८) तुम्हें गर्मी, सुज़ाक आदि बीमारी कभी हुई?

(९) तुम जिस परिवार में पैदा हुई उसकी क्या परिस्थिति थी, इत्यादि।

❋ *'Criminology and Penology' by Dr. Gillin.*

एल्मा केर्न की खोज

इन प्रश्नों के उत्तर में पता लगा कि धनी घर की कोई स्त्री भी वेश्या नहीं है। अक्सर लड़कियों को विमाता या विपिता (*step-mother* या *step-father*)के कारण घर छोड़ना पड़ा। माँ-बाप की लड़ाई और नशेबाज़ी का भी बुरा असर पड़ा। बहुत-सी वेश्यायें अपनी पतितावस्था से उठना चाहती हैं, किन्तु समझती हैं कि उठ नहीं सकतीं, इसके अतिरिक्त अब रोटी का सवाल है। यदि वे पहिले कुछ धन्धा करती थीं, तो वे अब समझती हैं कि उसमें लौट नहीं सकती, कुछ ने तो यह भी कहा कि वे अब लौट भी जायँ तो उनमें इतनी शक्ति नहीं रही कि उस काम को चला ले जायँ। बहुत-सी वेश्यायें नियमित रूप से प्रार्थना करती हैं, और कई अपना रूप बेचने के अतिरिक्त सभी अन्य मामलों में बड़ी धार्मिक हैं। कुछ ऐसी वेश्यायें मिलीं, जो कभी-कभी प्रार्थना करती हैं। कुछ कहती हैं हमें अपनी खुराक और नशे से मतलब, बाक़ी उन पर कुछ भी हुआ करे।

वेश्या-प्रथा सबसे बड़ी गुलामी

भारतवर्ष में यह समस्या युरोप से कुछ कम भयंकर नहीं है। अपराध और वेश्या में बहुत ही नज़दीकी रिश्ता है। धन-सम्बन्धी अपराधी अक्सर या तो जुआड़ी होते हैं, या वेश्यागामी, या दोनों। इस कारण अपराध के विरुद्ध लड़ाई का कोई भी कार्यक्रम वेश्यावृत्ति को बिना मिटाये पूरा नहीं हो सकता। वेश्या एक गुलाम से बुरी है, यों कहने को तो वह आज़ाद है, किन्तु वह एक ऐसी गुलाम है कि क़रीब-क़रीब कभी आज़ाद हो नहीं सकती। गुलामी प्रथा की मुख्य बात है आर्थिक शोषण, किन्तु वेश्या-प्रथा में यह तो है ही, साथ ही यह उसके व्यक्तित्व को अन्तिम दर्जे तक गिरा देना है। वर्त्तमान धनविभाजन-पद्धति का यह निकृष्टतम स्वरूप है, रुपये

से एक व्यक्ति एक दूसरे व्यक्ति की मिहनत को ही उचित या अनुचित मुआवज़ा देकर ख़रीद सकता है यह बात नहीं, बल्कि रुपये से वेश्या के शरीर को भी भाड़े पर ले सकता है। वेश्या-प्रथा बिना उठ गये यह कहना कि ग़ुलामी-प्रथा उठ गई, केवल एक झूठा सन्तोष है।

भारतवर्ष में उत्तेजक कारण

भारतवर्ष उत्पादन-पद्धति के ख्याल से एक पिछड़ा हुआ देश है। समाज में स्त्री की अवस्था यहाँ यूरामेरिका से बुरी है। एक हिन्दू पुरुष अगणित शादियाँ कर सकता है, एक मुसलमान चार शादी कर सकता है, अवश्य तीन दफ़े 'मैं तलाक़ देता हूँ, कहकर वह चारों को निकालकर फिर चार शादी कर सकता है। एक शिया तो मुताह-प्रथा के अनुसार किसी औरत से केवल चार घंटे के लिये ही शादी कर सकता है। इस प्रकार वह बीसियों औरत से क़ानूनन शादी कर सकता है। कम से कम यूरोपीय देशों में इतना तो है कि वे क़ानूनन शादी एक साथ एक ही कर सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि वहाँ की स्त्रियाँ इस कारण आज़ाद हैं। सच बात तो यह है कि वहाँ की स्त्रियाँ भारतीय स्त्रियों के मुक़ाबले में आज़ाद होने पर भी, वे पुरुषों के क़रीब-क़रीब उतनी ही अधीन हैं जितनी यहाँ की स्त्रियाँ। बर्नार्ड शा ने अपनी *Getting married* नामक पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि विवाह तो स्त्रियों के लिये रोटी का ज़रिया है। जब तक स्त्रियाँ आर्थिक रूप से स्वावलम्बी और पुरुषों के बराबर न हो जायँ, तब तक चाहे वे पर्दा करें या न करें, इससे कुछ आता-जाता नहीं, न इससे कुछ आता-जाता है कि वे कितनी पढ़ी लिखी हैं। अवश्य द्वितीय कारणों के रूप में बालविवाह, विधवा का विवाह न हो सकना, सतीत्व की अजीब धारणा आदि ज़िम्मेदार है।

रूस में इस समस्या का समाधान

इन मौलिक तथा द्वितीय कारणों को दूर करना जरूरी है, किन्तु हमें यहाँ जिस विषय से सम्बन्ध है, वह यह है कि वेश्यावृत्ति कैसे बन्द की जाय। कुछ लोग ऐसे मौजूद हैं जो कहते हैं कि वेश्यावृत्ति का रहना जरूरी है, नहीं तो समाज में उत्पात होगा, हमें इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि अरस्तू (*Aristotle*) ने अपने युग में प्रचलित गुलाम प्रथा को समाज की सुव्यवस्था के लिये अनिवार्य क़रार दिया था। जो कुछ भी हो आधुनिक रूस ने व्यवहारिक रूप में यह दिखला दिया कि वेश्यायें न होते हुए भी समाज बड़ी सुव्यवस्था के साथ चल सकता है। वहाँ पुरुष और स्त्री के विवाह तथा तलाक़ में कम से कम रोक होने के कारण, तथा विवाह के बाहर जो बच्चे पैदा होते हैं वे सामाजिक रूप से किसी से बुरे न समझे जाने के कारण वेश्या प्रथा का सामाजिक आधार चला गया। दूसरी ओर स्त्रियाँ पूर्ण स्वावलम्बी होने के कारण इसका आर्थिक आधार जाता रहा। जो स्त्रियाँ वेश्या थीं, उनको ठीक रास्ते पर लाना बहुत ही टेढ़ी खीर थी, किन्तु रूस ने इनकी समस्या को खूबी के साथ हल किया। पहिले तो इनको विशेष संस्था में रखकर इनका शारीरिक तथा मानसिक इलाज किया गया, फिर इनकी कामचोर आदत छुड़ाकर इन्हें काम करने की अभ्यस्त बनाया गया। इतना कर लेने के बाद उन्हें समाज की एक मामूली सदस्या मान लेने में क्या आपत्ति थी ?

भारतीय समाज से वेश्यावृत्ति को निमूल करने की चेष्टा तभी सफल होगी जब इन तरीक़ों पर सुधार हो, किन्तु ये तभी हो सकते हैं जब सामाजिक तरीक़ा ही बदल जाय।

पुरुषों में आवारा, स्त्रियों में वेश्या

आनशाफेनबुर्ग ने कहा है कि पुरुषों में जो लोग आवारा और

भिखमंगे होते हैं, वही श्रेणी स्त्रियों में वेश्या होती है। लगातार अपराध करनेवाली कोई ही स्त्री शायद ऐसी हो जो वेश्या न हो, उसकी रजिस्ट्री वेश्या के रूप में हुई, या नहीं, यह दूसरी बात है।

वेश्यावृत्ति पर क़ानून

भारतवर्ष में समय-समय पर वेश्यावृत्ति को दूर करने के लिये तो क्या, किन्तु वेश्याओं की हालत सुधारने के लिये तथा वेश्यागामियों को घृणित रोगों से बचाने के लिये कई क़ानून बने। विभिन्न प्रान्तों में जो *Immoral Traffic Act* बने हैं, उनका उद्देश्य वेश्यावृत्ति को रोकना नहीं, बल्कि उसके द्वारा वेश्याओं के अलावा जो लोग उससे आर्थिक फ़ायदा उठाते थे उनको दबाना था। सन् १९२१ में बम्बई शहर की एक सड़क पर एक कानस्टेबिल पहरा दे रहा था, उसने एक हिन्दुओं की अर्थी के जुलूस को सड़क पर से जाते देखा। इसे देखकर उसको शक हुआ तो उसको ठहराकर जाँच करने पर यह पता लगा कि एक चकलेवाले ने अपने यहाँ की एक वेश्याको मार डाला था और अब वह उस वेश्या की लाश को इस प्रकार जलाने भेज रहा था। इस घटना से सरकार की दृष्टि इस ओर गई, एक जाँच कमेटी बैठी, जिसने अपनी रिपोर्ट में कुछ चकले बिलकुल दबा देने के लिये कहा। साथ ही इसने यह साधारण सिफ़ारिशें कीं कि इन बातों पर रोक लगाई जाय :-

(क) चकला रखना।

(ख) लड़कियों को इस काम में लाना।

(ग) ख़ास-ख़ास जगहों पर वेश्याओं को मकान भाड़े पर देना।

प्रान्तों में क़ानून

इस रिपोर्ट के फलस्वरूप *The Bombay Prevention of*

Prostitution Act XI of 1923 पास हुआ, किन्तु इसके अनुसार केवल पुरुषों का चकला रखना ही गैरक़ानूनी हुआ। यह क़ानून नाकाफ़ी था, इसलिये इस क़ानून में १६२६–२७ में सुधार किया गया। १६३० में फिर क़ानून बना और अब यह हुआ कि वेश्या, वेश्यागामी के अलावा वेश्यावृत्ति से जो और लोग फ़ायदा उठाते थे, उनकी स्थिति गैरक़ानूनी हो गई। इनमें कुटनी, दलाल, चकलेवाली तथा मकानदार सबको साफ़ कर दिया गया। तब से चकला रखना गैरक़ानूनी हो गया, यहाँ तक कि चकले के लिये मकान भाड़े पर देना गैरक़ानूनी क़रार दिया गया। इससे वेश्यावृत्ति को कुछ नुकसान तो नहीं पहुँचा, हाँ, वेश्याओं में जो पूँजीवाद का सबसे घृणित रूप दिखाई पड़ रहा था, वह दूर हो गया। पहले वेश्या की कमाई का एक बड़ा हिस्सा बीच के लोग खा जाते थे, किन्तु अब इस प्रकार का शोषण एक हद तक असंभव हो गया है। इस क़ानून से वेश्यावृत्ति पर कोई रोकथाम नहीं हुई। मद्रास में भी इसी प्रकार एक *Immoral Traffic Act* (*Act V of 1930*) पास हुआ, किन्तु तृतीय व्यक्तियों (*the third party*) के लिये यह क़ानून उतना ज़ोरदार नहीं है। कलकत्ते के लिये *The Calcutta Immoral Suppression Act*, १६२३, में ही पास हो चुका था, इसने चकला रखनेवाले पुरुषों को सज़ा के योग्य क़रार दिया। १६३३ में वहाँ जो *Immoral Traffic Act* पास हुआ वह भी चकलों को बन्द नहीं करता, बल्कि उन पर मुनाफ़ा करनेवालों को विशेषकर बाड़ीवालियों को खतम कर दिया गया।❀

इस सम्बन्ध में सारे भारत के लिये दफ़ा ३६६, ३६६ए

❀ *Prostitution in India by Santosh Kumar Mukerjee.*

३६६ बी, ३७२, ३७३, ४६८ हैं, जो लड़कियों को विशेषकर एक उम्र से कम की लड़कियों को वेश्यावृत्ति से खास तरीके से रक्षा करते थे। संयुक्त प्रान्त में *The U. P. Girls' Protection Act of 1929*, तथा *the Naik Girls' Protection Act of 1929* वेश्यावृत्ति पर बहुत थोड़ी रोक-थाम करते हैं। इसी प्रकार १६३० में देवदासी-प्रथा के विरुद्ध एक क़ानून पास हुआ, धर्म के नाम पर यह एक विशेष प्रकार की वेश्यावृत्ति थी।

देवदासी

कहने को तो ये देवदासी हैं किन्तु असल में वेश्यायें थीं। प्रत्येक तामिल मंदिर में देवदासियों की एक सेना-सी-रहती थी। इनका काम को सबेरे तथा शाम को देवता के सामने नाचना-गाना था और जिस समय देवता का जुलूस निकलता था उस समय आरती के पंच-दीपों लेकर चलना उनका काम था। दक्षिण में बाँझें अक्सर यह मन्नत मानती थीं कि यदि उनको लड़की हो तो वे उसे देवता को अर्पण करेंगी। इस प्रकार धर्म के नाम पर एक तरह से ऐन मन्दिर के नीचे वेश्यावृत्ति होती थी।

रूस ने जिस ढंग पर वेश्याओं की समस्या को सुलझाकर उन्हें फिर से सामाजिक बना दिया है, वही प्रयोग हमें भी यहाँ करना पड़ेगा। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति की समझ में यह कभी नहीं आ सकता कि वह समाज जिसमें वेश्यावृत्ति जायज है, वह अपने को सभ्य कैसे कह सकता है। आश्चर्य तो यह है कि भारतीय नारी-आन्दोलन में बहुत प्रमुख नेत्रियों को यह कुछ भी पता नहीं है कि नारी-स्वाधीनता का स्वरूप क्या है। नारी-सम्मेलनों की ओर से वेश्यावृत्ति का अध्ययन बिलकुल नहीं हुआ, शायद वे इसको महत्त्व को समझते ही नही।

भारतीय जेल-पद्धति

हिन्दू तथा मुस्लिम काल में जेल

हम देख चुके कि जेल-पद्धति का विकास किस प्रकार हुआ, और उसके सम्बन्ध में विभिन्न धारायें क्या क्या हैं। हिन्दू तथा मुस्लिम काल में जेलों के सम्बन्ध में विशेष कुछ पता नहीं चलता। जो कुछ पता चलता है वह इतना ही है कि उनमें कैदियों को अँधेरी कोठरियों में ज़ंजीर डाल कर रक्खा जाता था, और उनसे किसी प्रकार की मशक्कत लेने की कोई व्यवस्था नहीं थी। ऐसा होना कुछ आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि उन ज़मानों में दूसरे देशों की जेलें भी ऐसी ही थीं।

अङ्गरेज़ों के प्रारंभिक युग में जेल

अंग्रेज़ों के आने के बाद पहिले-पहल १८३६ में जेल के सम्बंध में कुछ आँकड़ों का पता लगता है। इस साल में ४३ दीवानी, ७५ फौजदारी और ६८ मिश्रित जेलें बृटिश अधिकृत भारत में मौजूद थीं। कुल मिलाकर इन जेलों में ७२०७६ कैदियों के रहने की जगह थी, किन्तु जेलों में केवल ४३७६० कैदी थे। इनके अतिरिक्त जेलों के बाहर १२८३२ कैदी सड़क बनाने पर लगे हुए थे। बंगाल में जितने कैदी थे, उनमें से आधे के क़रीब ग्रैंडट्रंक रोड में सड़क बनाने में लगे हुए थे। जिनको सख्त सज़ा होती थी वे उन दिनों सड़क बनाने में ही लगाये जाते थे। बाक़ी जो लोग जेल में रह जाते थे, वे लोग कुछ काम नहीं करते थे।❀

❀ *Imprisonment by Col. Barker.*

१८३६ की जेल-कमेटी

भारतीय जेलों की जाँच करने के लिये १८३८ में एक कमेटी बैठी। सुप्रसिद्ध अँग्रेज़ विद्वान मैकले (*Macauley*) इस क़मेटी के सदस्य थे। इस कमेटी ने पाया कि मद्रास, कलकत्ता और बम्बई जेलों के सारे के सारे क़ैदी बिलकुल बैठे रहते हैं, फिर भी इस कमेटी का मत था कि यूरोप की जेलों के साथ तुलना करने पर ये निकृष्ट नहीं थीं। इस कमेटी ने सड़क बनाने के काम पर कैदियों को लगाये जाने का विरोध किया, और कहा कि ब्रिटिश पताक़ा के अधीन कहीं भी इतना बुरा रिवाज नहीं है। उस ज़माने की जेलों के छोटे अफ़सरों (*subordinate staff*) की घूसखोरी की इस कमेटी ने बहुत निन्दा की। कमेटी ने कहा कि जेलों को और कष्टकर बनाया जाय, साथ ही केन्द्रीय (*central*) जेलें बनाई जायँ। कमेटी ने यह सिफारिश की कि कैदियों को जेल के अन्दर इकरस, दिलचस्पी से हीन, जी ऊबनेवाले काम में लगाया जाय; ऐसा काम जिसको करने पर उन्हें यह भी आशा न हो कि कड़ी मशक़्त करने पर वे जल्दी छूटेंगे। स्पष्ट है कि इस प्रकार की सिफ़ारिश का अर्थ बदला लेना था। जो कुछ भी हो इस कमेटी ने जेल का इमारत तथा व्यवहारिक मशक़्त के सम्बन्ध में जो सिफ़ारिशें कीं, वे समय को देखते हुए काफ़ी प्रगतिशील थी। यों तो सिद्धान्त रूप में उन्होंने इकरस, दिलचस्पी से हीन, जीं ऊबा देने वाले काम की सिफ़ारिश की, किन्तु व्यवहारिक रूप में उन्होंने केवल ६ घन्टे के काम की ही योजना दी। उस ज़माने का मज़दूर-आन्दोलन भी इस छै घन्टे के दिन के पास नहीं फटक सकता था। कमेटी ने सिफ़ारिश की कि यदि मैजिस्ट्रेटों का यह अभिप्राय है कि कैदी से काम न लिया जाय, तो वे इस बात को फ़ैसले में लिख दिया करें। इसीसे (*simple imprisonment*) या महज़ क़ैद की उत्पत्ति हुई।※

※*Ibid, p. 68 and Indian Jail Committee, p. 30.*

कालेपानी की प्रथा—बेनकूलेन

इन जेलों के बहुत पहिले ही कैदियों को कालेपानी (*transportation*) भेजने का प्रथा चल पड़ी थी। १७८४ में ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इन्डिया कम्पनी के ऊपर आंशिक नियन्त्रण स्थापित किया और इसके तीन साल बाद ही १७८७ में सुमात्रा के दक्षिण-पश्चिम में बेनकूलेन (*Bencoolen*) में भारतीय कैदियों के लिये पहिला उपनिवेश स्थापित हुआ। इसी सन् में भारतीय कैदियों का पहिला जत्था वहाँ पहुँचा। इनलोगों को जङ्गल साफ करने तथा सड़क साफ करने के काम में लगाया गया, कुछ कैदियों को तो औपनिवेशिकों के हाथ ठेके पर दे दिया जाता था। इस उपनिवेश में जो लोग गये, उनको विवाह करने का भी हक़ था। १८१८ तक यह कैदी-उपनिवेश इस हालत पर पहुँच गया था कि सर स्टाम्फोड रफ्लस ने (*Stamford Rufles*) जो वहाँ के गवर्नर थे लिखा कि "कैदी जो यहाँ शादी कर लेते है और जिम्मेदार हो जाते हैं, वे लौटना नहीं चाहते, किन्तु शादी के पहले वे बहुत ग़ैरजिम्मेदार रहते हैं।"

नये कालेपानी की व्यवस्था

१८२३ में बेनकूलेन डचलोगों को दे दिया गया, इसलिये अब भारतीय कैदियों के लिये पेनाङ्ग (*Penang*) कैदी-उपनिवेश क़ायम हुआ। यह काफी नहीं हुआ, इसलिये सिंगापुर और मलक्का (*Malacca*) को इसका स्थान दिया गया। फिर भी पेनाङ्ग में एक बहुत ही दिलचस्प प्रयोग हो चुका था, जो बाद को जेल-परिचालना में बहुत ही क्रान्तिकारी चीज साबित हुई। यह प्रयोग यह था कैदियों से आज़ाद व्यक्तियों की तरह काम पहिले-पहल यहीं लिया गया। सिंगापुर के रेसिडेन्ट मिस्टर बोनहैम (*Bonham*), ने पहिले-पहल यह प्रयोग किया। उन्होंने देखा कि कैदियों का बर्ताव बिलकुल ठीक है, इसलिये उन्होंने अपने चिट्ठिरसा (*peon*) को बरख़ास्त कर दिया, और

उसकी जगह पर एक कैदी को लगाया। इसी प्रकार जब कैदी-उपनिवेश में वार्डर की कमी हुई, तो उन्होंने कैदियों को छोटे-छोटे अफसर (*petty-officers*) बना दिया। यह प्रयोग बहुत ही सफल रहा।❀

अन्दमन द्वीपपुञ्ज

यह कैदी उपनिवेश १८२५ से लेकर १८७३ तक काम देता रहा। इस बीच में १८६७ में ही मिस्टर मैन (*Mr. Man*) पेनाङ्ग में जो थोड़े-बहुत कैदी रह गये थे उनको लेकर अंदमन पहुँचे। इस प्रकार यह देखने की बात है कि अन्दमन बहुत बाद को कैदियों का उपनिवेश बना। १८७३ में सब जगह के सब कैदी वहां पहुँच गये। स्ट्रेटस उपनिवेश के वही लोग यहाँ आये जो खास उपनिवेश में ही थे, किन्तु जो लोग (*ticket of leave*) पर आज़ाद थे, उनको वहीं रह जाने दिया गया। १८७३ के बाद से सभी कालेपानीवाले अंदमन में ही भेजे जाते हैं।

१८३८ की जेलें

१८३८ में कमेटी ने जेलें देखीं उनमें पुरुष तथा स्त्री दोनों को प्राय: एक साथ रहते पाया गया। हवालाती, कैदी, मर्द, औरत, बच्चे, बालिग़ सब इकट्ठे रक्खे जाते थे। बंगाल में सज़ा की लम्बाई के खयाल से कई श्रेणी बनी हुई थी, और कैदी इसीकी बुनियाद पर साथ में रक्खे जाते थे। बम्बई में यह श्रेणीविभाग बिलकुल दूसरेतरीक़े पर था, और वहां एक धर्म के माननेवाले कैदी सब एकसाथ रक्खे जाते थे केवल यही नहीं एकजाति के लोग जहाँ तक हो सकता था साथ में रहते थे।

कमेटी की मूर्खतापूर्ण सिफ़ारिशें

१८३८ की इस कमेटी की राय में लड़कों को बालिग़ो से अलग

❀ *Imprisonment by Col. Barker, p. 70.*

रखना ग़लत था। इसका कहना था कि जब ये दोनों एकसाथ रहते हैं, तो लड़के कुछ सम्हले रहते हैं, नहीं तो वे बहुत ऊधम मचाते हैं। कहना न होगा कि यह धारणा आजकल के उन्नत अपराध विज्ञान के सामने सम्पूर्णरूप से हास्यास्पद है। इस कमेटी ने कैदियों को शिक्षा देने के विरुद्ध राय जाहिर की, साथ ही कैदियों के सुधार के विषय में बड़ी निराशा प्रकट की। इसने जेलों में मशक्कत के रूप में ट्रेडमिलों के प्रचलन की सिफ़ारिश की, साथ ही साथ इसने कैदियों को कालकोठरी अधिक दिये जाने की सिफ़ारिश की। इङ्गलैंड में प्रचारित समसामयिक विचारों का इन सिफ़ारिशों पर प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर है। १८३८ तक कैदियों को सीधा या राशन (*Rations*) के बदले भत्ता देने की प्रथा बंगाल और उत्तर-पश्चिम प्रान्तों में प्रचलित थी, किन्तु बम्बई और मद्रास में कैदियों को भत्ता नहीं बल्कि राशन देने की प्रथा थी।

अलीपुर जेल

अलीपुर की जेल १८१० में बनी थी, किन्तु इसकी इमारत आजकल की जेलों की तुलना में बिलकुल निकम्मी थी। इस जेल को १००० कैदियों के लिये बनाया गया था, किन्तु १८३६-३८ की कमेटी ने इसमें ११०० को रहते पाया। ये ग्यारह सौ कैदी बारह वार्डों में रात को बन्द किये जाते थे, किन्तु दिन के समय ये सब एक खुली जगह में एक साथ रहते थे। उनको जो बोरा बुनने का काम दिया जाता था, वह बहुत ही हल्का था, और कैदी उसे दुपहर तक खतम कर देते थे। इसके बाद वे सारा समय भत्ता से खरीदे हुए खाने को पकाने में तथा गुलगपाड़ा करने में बिताते थे। जेल के अन्दर के इस मैदान में ही एक बाज़ार था, इस बाज़ार से लोग खाना खरीदते थे। जेल के अन्दर जो थोड़े-बहुत वार्डर थे, वे इन्तज़ाम क्या करते, हरवक्त खैर मनाते रहते थे कि कहीं कु

गड़बड़ न हो जाय। कैदी ही उन पर राज्य करते थे। इन बातों के होते हुए भी कमेटी का यह सुनिश्चित मत था कि भारतीय जेलें इङ्गलैंड की जेलों से अच्छी थीं, और उनमें हावर्ड के सिद्धान्तों को अधिक कार्यरूप में परिणत किया गया था।❀

१८५६ में भारतीय जेल

१८५६ तक जेलों में बहुत-सी नई बातें हो चुकी थीं। ऐडम (*Adam*) इस ज़माने की जेलों के सम्बन्ध में लिखते हैं 'तमाम कमियों के होते हुए भी भारतीय जेलें समसामयिक इङ्गलैंड की जेलों से कहीं अच्छी थीं, साथ ही यहाँ का स्वास्थ्य इतना अच्छा था कि इङ्गलैंड की जेलों से यहाँ मृत्यु कम होती थी।'†

कई केन्द्रीय जेलें

१८६० में सिंगापुर में एक केन्द्रीय जेल (*Central jail*) बनी। १८६०-६४ के बीच में कोईम्बटोर, सालेम तथा ट्रिचिनोपल्ली में केन्द्रीय जेलें बनी।‡

१८६४ की जेल-जाँच कमेटी

१८६४ में फिर एक जेल जाँच-कमेटी बैठी। इसके सदस्य विशेषज्ञ थे, फिर भी इसकी रिपोर्ट में कोई खास बात नहीं थी।×

१८७७ में विशेषज्ञों की कानफरेन्स

१८७७ में भारत सरकार ने फिर एक विशेषज्ञों की कानफरेन्स

❀*Imprisonment by Col. Barker.*

†*Ibid.*

‡*Ibid.*

×*Indian Jail-Committee Report, 1919-20, p. 30.*

बुलाई। इसके सभी विशेषज्ञ उच्च जेल-अधिकारी थे। जेल-सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर इस कानफरेन्स में विचार हुए। रिपोर्ट में प्रत्येक विषय के दोनों पहलुओं पर दृष्टि डाली गई, कमेटी ने इस प्रकार दोनों पहलुओं को इतना दर्शाया कि उसने जो सिफ़ारिशें कीं वे उनके बोझ से दब गईं और क़रीब-क़रीब भुला दी गईं।

१८८८ की विशेषज्ञ-कमेटी

१८८८-८६ में सरकार ने दो विशेषज्ञों की याने डाक्टर लेथब्रिज और डार्क्टर वाकर की एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी से कहा गया कि वह किसी विषय पर सिद्धान्त बताने के पचड़े में न पड़े, क्योंकि यह काम पहिले की कमेटियों के द्वारा बारबार किया जा चुका था, किन्तु वह यह बतावे कि कैसे सब जेलों की पारस्परिक विभिन्नता दूर होकर एक ही प्रकार की पद्धति सब जगह चल जाय, तथा कहाँ तक सिद्धान्तों को बरता जाय। इस कमेटी ने एक सुन्दर रिपोर्ट तैयारकर इन बातों पर रोशनी डाली। इसीके एक तरह से साथ-साथ १८६२ में कलकत्ते में एक कमेटी बैठी। इस कमेटी ने इस बात पर रोशनी डाली कि जेल के अन्दर जो हुक्मउदूली आदि अपराध होता है, उसका सामना कैसे किया जाय। इन्हीं सिफ़ारिशों को बाद को १८६४ के (*Prisons Act*) के अन्तर्गत करके एक क़ानून बना दिया गया।

१८६४ का जेल-ऐक्ट

इस कमेटी के बाद यह जो *Prisons Act* बना उससे भारतवर्ष की जेलों में बहुत कुछ एक-सा व्यवहार जारी हुआ, किन्तु अन्य कई कारणों से उनमें एक खाना तथा पहिनावा जारी न हो सका। शायद यह वांछनीय भी न होता, क्योंकि बंगाली भात खाना पसन्द करते हैं, तो पंजाबी रोटी इत्यादि।

१६१६ की जेल कमेटी

१६१६-२० में जो भारतीय जेल-कमेटी बैठी, उसने न केवल भारतीय जेलों का निरीक्षण किया बल्कि उसने अमेरिका तथा अन्य देशों की जेलों का भी निरीक्षण किया। इस कमेटी की रिपोर्ट एक अकांड ग्रंथ है, और जेलों के सम्बन्ध में दिलचस्पी रखनेवाला कोई भी व्यक्ति इस रिपोर्ट की अवज्ञा नहीं कर सकता। इसकी सिफ़ारिशों का रुख अधिकतर प्रगतिशीलता की ओर था, सच बात तो यह है कि भारत-सरकार ने या किसी भी प्रान्तीय सरकार ने इसकी सिफ़ारिशों को पूर्णरूप से नहीं अपनाया। हम यदि उसकी सिफारिशों का अलग-अलग वर्णन करें तो उससे हमारी पुस्तक के बहुत बढ़ जाने का डर है, इसलिये हम एक-एक विषय को लेंगे, और यदि जरूरत पड़ी तो इस जेल कमेटी की सिफ़ारिशों का उल्लेख करेंगे।

भारत में जेलों की संख्या

१६२६-३० की संयुक्त प्रान्तीय जेल-कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार १६२७ में ब्रिटिश-भारत में इतनी जेलें थीं।❀

प्रान्त का नाम	सेन्ट्रल जेलें	डिस्ट्रिक्ट जेलें या वैसी संस्थायें	लाक-अप	जेल की जन संख्या
संयुक्त-प्रान्त	६	५०	×	३११४०
बंगाल	७	२१	६१	१३५३६
पंजाब	३	२१	१०	१६४४४
मध्यप्रान्त	२	१०	६	४३७५
बिहार उड़िसा	४	१३	५१	७५०३
बंबई	१	१६	८	१२६७६
मद्रास	१०	६	×	१८७४६

❀ *Vide Report of the U. P. Jail Committee. 1929-30.*

आसाम		×	११	६	२४२१
सीमा-प्रान्त	२	....	३	८	३६७१
बर्मा		६	२३	×	१६३४७

इन आँकड़ों के प्रकाशित हो जाने के बाद जेलों की संख्या में कोई परिवर्तन शायद ही हुआ हो, किन्तु बर्मा के भारत से निकल जाने के कारण तथा उड़िसा और सिन्ध दो नये प्रान्त बनाये जाने के कारण इन्हीं जेलों को अब दूसरे तरीके से दिखलाया जायगा।

कैदियों का वर्गीकरण

जेलों को चलाने के काम में सबसे बड़ी समस्या कैदियों के वर्गीकरण की है। यह तो मान लिया जा सकता है कि सब तरह के कैदियों को इकट्ठा रखने से सुधार के बजाय बिगाड़ होने की संभावना है। कैदियों के वर्गीकरण का सबसे आसान तरीक़ा तो यह मालूम देता है कि जिनको पहिले कभी क़ैद नहीं हुई हो, उनको इकबारा करके एक वर्ग बना दिया जाय, तथा बाक़ी सबको दुबारा क़रार दिया जाय। यह तरीक़ा प्रथम दृष्टि में ठीक जँचने पर भी ऐसा करना ग़लत होगा। संभव है कि एक व्यक्ति वर्षों से लगातार अपराध कर रहा है, किन्तु पकड़ा अब जाता है, तो क्या वह इकबारा होगा? इसके विपरीत एक व्यक्ति अपने जीवन में पहिली बार अपराध करने की चेष्टा करते ही पकड़ जाता है, उसे सज़ा हो जाती है, दूसरी बार वह १०६ या ११० में पकड़ जाता है, किन्तु सिवा जेल के नये साथियों से मिलने के उसने अब तक कोई बदमाशी नहीं की, तो क्या वह दुबारा क़रार दिया जायगा? इस सम्बन्ध में इङ्गलैंड की स्टार श्रेणी की पद्धति हमें सबसे अच्छी जँची, किन्तु इस पद्धति को चलाने के लिये भारत में साधन नहीं होंगे। १६१६-२० की भारतीय जेल कमेटी की राय में केवल पुलिस की रिपोर्ट के आधार पर किसी का वर्गीकरण ठीक नहीं हो सकता। इङ्गलैंड वर्गीकरण के विषय पर किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये पुलिस के अतिरिक्त

अपराधी जिस स्कूल में पढ़ा है, उसके शिक्षक, वह जहाँ काम करता था वहाँ के मैनेजर आदि से उसके सम्बन्ध में जाँच की जाती है। भारतवर्ष में भी ऐसा करना चाहिये।❀ १६२६-३० की संयुक्त प्रान्तीय जेल कमेटी (जिसके सभापति लखनऊ चीफकोर्ट के मुख्य विचारपति थे) ने इससे आगे बढ़कर लिखा "वर्गीकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है, किन्तु पुलिस इस सम्बन्ध में ठीक-ठीक ख़बर नहीं देती, अक्सर तो वे अपराधी का कोई भी पूर्व इतिहास नहीं लिख-भेजते। इन बातों पर खास तरीके से सब ज्ञातव्य बातों का पता लगे, तभी ठीक-ठीक वर्गीकरण हो सकेगा (१) पारिवारिक इतिहास, (२) भूतकाल, (३) मानसिक हालत (४) मैथुनिक (*sexual*) चरित्र बिगड़ा है ? कहाँ तक ? (५) पहिले सज़ा हुई ? कब, क्योंकर ? (६) पेशा और सामाजिक हालत।" १६१६-२० की जेल-कमेटी की राय में वर्गीकरण के लिये ये बातें भी ज़रूरी हैं (१) प्रत्येक क़ैदी को यह अधिकार हो कि यदि उसको दुबारा क़रार दिया जाय तो वह उसके विरुद्ध अपील कर सके, (२) जरायम-पेशा कौमों का सदस्य होने के कारण ही कोई दुबारा क़रार दिया जाय यह बात नहीं, (३) जिन कैदियों की प्रवृत्ति बुरी हो वे चाहे इकबारे क़रार दिये जायें, फिर भी उनको दूसरे कैदियों से अलग रक्खा जाय, (४) कोई कैदी भाग जाय या भागने का इरादा करे तो इसी कारण वह दुबारा क़रार न दिया जाय, (५) दुबारों को दूसरों से अधिक मशक़्क़त न करनी पड़े, (६) कुटनी, चकलेवाली तथा बुरी क़िस्म की वेश्याओं को दुबारिन क़रार दिया जाय चाहे उनका अपराध कुछ भी न हो। †

दुबारों के लिये अलग जेलें

मद्रास में ही सबसे पहिले-पहल दुबारों को अलग जेलों में

❀ *Indian Jail-Committee Report, 1919-20, p. 78.*

† *Report of the Indian Jail-Committee, 1919-20, p. 78 to 82.*

रखने का प्रयोग चला, बाद को और प्रान्तों ने इसे ग्रहण किया, किन्तु एक तो .कैदियों की मानसिक जाँच का सर्वत्र अभाव है, दूसरा कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण न होने के कारण यह केवल एक ढकोसला मात्र है। ढंग का वर्गीकरण होने के बाद ही इस प्रकार इकबारों के लिये अलग तथा दुबारों के लिये अलग जेल का कोई अर्थ होगा। इसके साथ ही यह भी बात ज़रूरी होगी कि हवालातियों का भी मोटे तौर पर नहीं, अच्छी तरह वर्गीकरण हो, जब तक ऐसा करने का मसाला न प्राप्त हो तब तक वे लोग एक-एक व्यक्ति अलग-अलग कोठरी में इस प्रकार रक्खे जायँ कि बात तक न कर सकें।

रहन-सहन के अनुसार जेल की सुविधा में कमीवेशी

कैदियों के इस प्रकार अपराध तथा स्वभाव के अनुसार विभाजन के साथ ही यह सवाल उठता है कि क्या कैदियों के वर्गीकरण के साथ या समय इस बात को भी ख़याल में रक्खा जाय कि उनकी रहन-सहन बाहर कैसी रही है, और क्या तदनुसार उनको जेल में कम या अधिक सुविधायें दी जायँ? इस सम्बन्ध में इंगलैंड में जो व्यवस्था है उसका पहिले ही वर्णन आ चुका। वहाँ कैसे कैदियों के तीन विभाग (*divisions*) होते हैं, वह हम बतला चुके।

भारतीय जेलों की मौजूदा पद्धति—ए, बी, सी

इस सम्बन्ध में भारतीय जेलों में इस समय जो पद्धति प्रचलित है, वह यह है कि .कैदी तीन श्रेणियों में बाँटे जाते हैं, अर्थात् ए, बी और सी। भारत सरकार ने १६ फरवरी १६३० को एक विज्ञप्ति निकालकर वर्त्तमान पद्धति को चालू किया, इसके पहिले भारतवर्ष की जेलों में .कैदियों की बिलकुल ही विभिन्न तीन श्रेणियाँ थीं :–

(१) साधारण भारतीय कैदी।

(२) साधारण यूरोपीय कैदी (*Europeans and Anglo-Indians*).

(३) विशेष-श्रेणी के क़ैदी (*Special class*).

सभी भारतीय क़ैदी साधारण भारतीय क़ैदी होते थे, उनको जो व्यवहार मिलता था, उसका कुछ परिवर्तित रूप आजकल की सी श्रेणी है। यह सबसे निम्न श्रेणी थी। यूरोपीय क़ैदी के साथ क़रीब-क़रीब खाने तथा पहनने के मामले में क़रीब-क़रीब वही व्यवहार होता था, जो आज़ाद गोरा सिपाही के साथ होता है। आजकल की बी श्रेणी उसी का परिवर्तित रूप है, किन्तु पहिले यह केवल गोरे क़ैदियों को मिलती थी, अब आमदनी, पद, शिक्षा, रहन-सहन देखकर भारतीयों को भी इसमें लिया जाता है। विशेष श्रेणी उँगली गिने जाने योग्य बहुत ही थोड़े लोगों को दी जाती थी। १९२१ के आन्दोलन के ज़माने में राजनैतिक क़ैदियों के लिये सामयिक तौर पर प्रत्येक प्रान्त में *first class misdemenant, second class misdemenant* आदि सामयिक वर्ग बने थे। १९ फरवरी १९३० की विज्ञप्ति में भारत सरकार ने यह ऐलान किया था कि अब से जेलों के अन्दर जातिगत वैषम्य (*racial discrimination*) की पालिसी दूर कर दी गई, किन्तु व्यवहारिक रूप में अब प्रत्येक गोरे तथा एंग्लो-इण्डियन को बी श्रेणी में रक्खा तो नहीं जाता, किन्तु ऐसे लोग सरकारी तौर पर सी श्रेणी में रक्खे जाने पर भी गोरा सी श्रेणी (*European C Class*) भारतीय सी श्रेणी से अलग ही चीज़ है, और उनको क़रीब-क़रीब वे ही सुविधायें मिलती हैं जो बी श्रेणी के लोगों को मिलती है। संयुक्त प्रान्त में ऐसा ही है। अन्य प्रान्तों में भी यही प्रभेद है। बी और सी श्रेणी में अपराध क्या है यह बिलकुल देखा नहीं जाता, किन्तु ए श्रेणी देने के लिये उच्चतर रहन-सहन के अलावा यह भी देखा

जाता है कि अपराध में नैतिक-पतन (*moral turpitude*) तो नहीं है। बी श्रेणी तो बलात्कार, डकैती, चोरी सभी अपराध का अपराधी पा सकता है, यदि उसकी रहन-सहन, शिक्षा और आमदनी काफी ऊँची रही हो। सन्देह नहीं कि ए, बी, सी श्रेणी की यह पद्धति पहली पद्धति पर तो तरक्की है, क्योंकि इसमें जातिगत वैषम्य उस हद तक न रहा।

पद्धति का औचित्य-अनौचित्य

प्रश्न यह है कि क्या यह पद्धति (ए० बी० सी० वाली) ठीक है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये यह जरूरी है कि हम इस पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त को जाने, स्पष्ट ही वह यह है कि प्रत्येक कैदी के साथ जेल में उसकी रहन-सहन के मुताबिक़ व्यवहार किया जाय। इस मत के अनुसार रोज़ रु० ५) खर्च करनेवाले व्यक्ति को तथा रोज़ पाँच आने खर्च करनेवाले व्यक्ति को जेल में एक ही तीन आने की सतह पर लाना ग़लत होगा, क्योंकि दोनों को कष्ट बराबर न होगा, बल्कि एक को दूसरे के मुक़ाबले में बहुत अधिक कष्ट होगा जो सजा देनेवाले न तो जज का उद्देश्य है, न क़ानून का उद्देश्य। इस दृष्टिकोण से ए० बी० सी० श्रेणी का होना नितान्त उचित है। दूसरे पक्ष का कहना है कि उच्च श्रेणी के एक व्यक्ति को शिक्षा, अनुशासन, तथा अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने का मौक़ा मिला, फिर भी उसने अपराध किया, इससे उसको जेल में यदि अधिक तकलीफ़ मिलती है, तो इसकी परवाह नहीं करनी चाहिये। वे कहते हैं यदि रहन-सहन तथा आदत पर (*social status, standard of living and habits*) ही किसी को अच्छा व्यवहार दिया जाय तो जेल में अफीमची को अफ़ीम तथा शराबी को शराब भी देनी चाहिये। कहना न होगा कि यह तर्क ठीक-ठीक नहीं बैठता, क्योंकि रहन-सहन के अनुसार खाने, पहिनने देना, और नशा करने देना और बात है। जो कुछ

भी हो रहनसहन सिद्धान्त के विपक्षियों की एक ज़बर्दस्त तर्क यह है कि सी श्रेणी का खाना खाकर तथा कपड़ा पहिनकर अक्सर यह देखा गया है कि कथित उच्च श्रेणी के लोग अपना औसत स्वास्थ्य क़ायम रख सकते हैं, जो नहीं रख सकते, उनको (*medical ground*) पर कुछ पुष्टिकर खाद्य जैसे दूध, गोश्त या अंडा दिया जा सकता है इसके लिये कोई अलग श्रेणी का निर्माण करना ग़लत होगा। रहा जो बाक़ी चीज़ें वे बाहर व्यवहार करते थे, वे विलासिता (*luxuries*) के अन्दर आती हैं, और जेल में विलासिता के द्रव्य इस्तेमाल नहीं करने देना चाहिये, इत्यादि।

सब तर्कों को तौलने के बाद मेरी यह राय है कि ए० बी० सी० श्रेणी तोड़ दी जायँ। श्रेणियां अपराध के आधार पर हों जैसे इङ्गलैंड में होतीं हैं। एक श्रेणी में सब ऐसे अपराधी आ जायँ जो नैतिक-पतन के अन्दर आते हों (*crimes involving moral turpitude*)। दूसरी श्रेणी में वे सब लोग आ जायें जिनके अपराध में नैतिक पतन न रहा हो। दूसरी श्रेणी के लोगों को अधिक से अधिक रियायतें दी जायें, जिनमें पढ़ने-लिखने, चिट्ठी भेजना और पाना मुलाकात करने, खाने-पीने पहिनने आदि की सुविधायें हों।

जेल-कर्मचारी

वर्गीकरण की ही तरह बराबर महत्त्वपूर्ण या शायद उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि जेल के अफ़सर ठीक तरह के लोग हों। १९१९-२० की जेल-कमेटी ने यह ठीक ही लिखा था "*The day is past when it can be supposed that anyone is fit to manage a prison, just as it is no longer imagined that any one can teach in a school*" याने 'वह ज़माना गया जब कि यह समझा जाता था कि कोई भी व्यक्ति जेल का इन्तज़ाम कर सकता है, जैसे कि अब यह भी

नहीं समझा जाता कि कोई भी स्कूल में पढ़ा सकता है।' आश्चर्य यह है कि इस मोटी-सी बात को सरकार ने अभी तक नहीं अपनाया, किन्तु लखनऊ में जो जेल ट्रेनिंग स्कूल (*jail training school*) खुला है, उससे ज़ाहिर होता है कि सरकार अपनी कुंभकर्ण निद्रा से जगी है, किन्तु सवाल इसके साथ ही यह है कि क्या इस ट्रेनिंग स्कूल में जो ज्ञान भविष्य या वर्त्तमान जेल के कर्मचारी प्राप्त करेंगे या कर रहे हैं, उसको वह अपनी-अपनी जेलों में कार्यरूप में परिणत कर पायेंगे? मुझे डर है कि इस प्रश्न का उत्तर हाँ में देना मुश्किल है। जेल के वर्त्तमान क़ानून, वहाँ की परिपाटी ऐसी है या हो चुकी है कि उसमें जब तक मौलिक परिवर्तन नहीं होगा, तब तक केवल कुछ कर्मचारियों में ज्ञान के प्रचार से क्या होगा, मेरी समझ में नहीं आता। अपराधविज्ञान के नये से नये ज्ञान के आधार पर जेलों को, जेल-नियमों को बनाने पर ही ये कर्मचारी अपनी पूरी योग्यता से काम कर सकेंगे। मेरी राय में जेलों को सुधारने के लिये सबसे पहिला काम यह होना चाहिये कि जो पागल नहीं किन्तु मानसिक रूप से त्रुटिग्रस्त (*mental defectives*) लोग जेल में हैं उनको पहिले अलग कर दिया जाय। इसके साथ ही सम्पूर्ण रूप से केवल क़ैद के आधार पर नहीं, बल्कि सारी बातों को ख़्याल में रखते हुए वर्गीकरण होना चाहिये।

जेल कर्मचारी बढ़ाये जायँ या नहीं

यह भी कहा गया है कि यदि ढंग से जेलों को चलाना है, तो भारतीय जेलों में कर्मचारियों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी। संयुक्त प्रान्त की हालत तो इस सम्बन्ध में सबसे ख़राब बताई गई है। १९२९-३० की संयुक्त प्रान्तीय जेल-कमेटी ने देखा कि लाहौर केन्द्रीय जेल में २८०० क़ैदी पर २८७ केवल वार्डर हैं, किन्तु संयुक्त प्रान्त की नैनी जेल में २१०० क़ैदी पर केवल ५४ वार्डर थे। यह मान

लेने पर भी कि यही तारतम्य पंजाब और संयुक्त प्रान्त के जेल-विभाग में नियुक्त वार्डरों की संख्या में है, यह बात हमारे समझ में नहीं आती कि इस सम्बन्ध में पंजाब के उदाहरण का अनुकरण क्यों किया जाय। मुझे पंजाब का जेल-विभाग का व्यवहारिक ज्ञान है, किन्तु मैं तो नहीं समझता कि कसौटी पर कसने पर पंजाब का जेल-विभाग संयुक्त प्रान्त के जेल-विभाग से कुछ अधिक खरा उतरेगा, अवश्य खरा शब्द से हमारा मतलब अपराध विज्ञान के आधुनिकतम सिद्धान्तों को सामने रखते हुए क़ैदियों का सुधार है। पंजाब और संयुक्त प्रान्त दोनों जगह पर क़ैदियों को असुविधाओं के अन्दर बन्द रखकर, तथा इस बन्दी हालत में कुछ काम लेकर छोड़ देना है, जैसा कि होता है। ऐसी अवस्था में मैं समझता हूँ कि वार्डरों को बढ़ाना केवल एक फालतू खर्च होगा। पंजाब में क़ैदियों के अनुपात से संयुक्त प्रान्त से अधिक वार्डर हैं, तो इससे पंजाब जेल-विभाग की ख़राबी ही सूचित होती है। पंजाब का एक बोरस्टल अवश्य ही खूबी की चीज़ है, किन्तु बाक़ी सारे जेल-विभाग में कोई भी खूबी नहीं है। क्या वहाँ जेल के अन्दर अपराध कम होते हैं? क्या वहाँ दुबारापन (*recidivism*) कम है? क्या वहाँ जेल में काम अधिक होता है? फिर दावा किस बात का है? मेरी तो बल्कि सुनिश्चित राय यह है कि जेलें जैसी चल रही हैं, उन्हें यदि वैसी ही चलानी है, तो संयुक्त प्रान्त में जितने वार्डर तथा जेलर हैं, उससे आधे में ही काम चल सकता है। मैंने देखा है कि पुराने पक्कों (*convict warders*) ने केन्द्रीय जेल के उन हातों को जिनमें जेलर नहीं होता उनको बखूबी सँभाला है। इस बात को देखते हुए जेल-कर्मचारियों को बढ़ाने का सवाल, तभी उठता है जब कि यह तय कर लिया जाय कि जेलों को वाक़ई बिलकुल नये सिरे से नये सिद्धान्तों पर चलाया जाय।

रात में कोठरी, दिन में साथ

क़ैदियों को कोठरी में रक्खा जाय या एक साथ इस विषय पर हम अन्यत्र पूरे तरीक़े से आलोचना कर चुके। वर्त्तमान समय में भारतीय जेलों में क़ैदी बैरक में एक साथ भी रक्खे जाते हैं, और कोठरी में भी। इसमें कोई विशेष सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया जाता। संयुक्त प्रान्त में बरैली का लड़का-जेल (*Juvenile Jail*) ही ऐसा है, जहाँ के सब क़ैदी कोठरियों में रक्खे जाते हैं। इसी प्रकार मद्रास के लिये टैंजोर, बंगाल के लिये अलीपुर, बिहार-उड़िसा के लिये मुँगेर, मध्यप्रान्त के लिये नरसिंहपुर, बम्बई के लिये धरवार तथा पंजाब के लिये लाहौर में लड़का जेलें हैं। इन सब में केवल कोठरियों की व्यवस्था है या नहीं यह निश्चय रूप से नहीं मालूम, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि लड़कों के लिये ही नहीं सब क़ैदियों के लिये रात में कोठरी और दिन में साथ रहने की व्यवस्था होनी चाहिये। हाँ यदि दिन में जो क़ैदी आज़ादों की तरह बाहर काम करें और रहें, उनको रात में कोठरियों में बन्द रखने की ज़रूरत नहीं।

भारतीय जेलों में स्वायत्तशासन का प्रयोग

यह बात नहीं कि क़ैदियों में स्वायत्तशासन के सिद्धान्त को बढ़ाने की चेष्टा का प्रयोग कभी भारत में हुआ ही न हो। १६०५ में बम्बई की थाना जेल में कुछ अच्छी चालचलन के इकबारों को लेकर (जिन्होंने अपनी सज़ा दो-तिहाई जेल में काट ली थी) एक प्रयोग किया गया था। यह लोग जेल के बाग़ में काम करते थे। इनको कई सुविधायें प्राप्त थीं, एक तो इनको जेल के कपड़ों को पहिनने की मजबूरी नहीं रही, इनको एक हद तक मिठाई व तम्बाकू रीदने की स्वाधीनता रही, ये चिट्ठी चाहे जितनी लिख सकते थे, इनको निशान या छूट ज़्यादा मिलती थी, और ये अपने ऊपर

पहरा भी आप ही देते थे। इन लोगों में से एक ने भी भागने की चेष्टा नहीं की यद्यपि एक भी वार्डर उन पर नहीं लगाया गया था। इनको स्वायत्तशासन देने से बाग़ में उन्नित हुई, और अधिक मुनाफा हुआ। यह योजना इसलिये समाप्त नहीं हुई कि यह नाकामयाब रही, बल्कि इस योजना को इसलिए छोड़ देना पड़ा कि इसमें लिये जाने लायक़ सब क़ैदी जेल के इन्तज़ाम के लिये नम्बरदार बना दिये जाने लगे। ❀

एक और स्वायत्तशासन का प्रयोग

इसी प्रकार का एक और प्रयोग १६१६-२० की जेल कमेटी ने लाहौर की बोरस्टाल जेल में होते देखा। वहाँ पर कुछ चुने हुये नौजवानों को जेल के बाहर के क्वाटरों में जगह दी जाती थी उनको रेल के कारखाने में नौकर करा दिया जाता था, और वे किसी प्रकार के पहरे के बग़ैर वहाँ आते-जाते थे। उनको पूरी मज़दूरी दी जाती है, किन्तु उसमें से कुछ बँधी हुई रक़म उनके खर्च के मद में काट ली जाती थी। कैदियों को रात को अपने क्वार्टरों में आने की मजबूरी थी, किन्तु रात को कोई नाम पुकारा नहीं जाता था। यह भी प्रयोग सफल रहा।†

भारतीय जेलों में अप्राकृतिक व्यभिचार

वर्त्तमान व्यवस्था में भारतीय जेलों में जो अप्राकृतिक व्याभिचार होता है, वह बिल्कुल स्वाभाविक है। १६१६ की भारतीय जेल कमेटी के सामने गवाही देते हुए एक जेल-कर्मचारी ने कहा कि जेलों के ३० फी सदी से लेकर ८४ फी सदी व्यक्ति इस अपराध में किसी न किसी रूप में लिप्त हैं। उस गवाह ने यह भी कहा "जेल

❀ *Report of the Indian Jail Committee, 1919-20, p.237.*

की बात जाने दी जाय, किन्तु भारतवर्ष में जेल के बाहर भी यह अपराध इतनी सहिष्णुता के साथ देखा जाता है कि उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, शायद प्राचीन ग्रीक लोगों में यह अपराध इतनी ही सहिष्णुता के साथ देखा जाता हो। बाहर के लोगों में यह अपराध बहुत ही आम है। मैंने तो वार्डरों के लिये कई भर्ती होनेवालों को इस कारण जगह नहीं दी कि उनमें यह ऐब पाया गया। मैं समझता हूँ भारतीयों में यह अपराध उसी श्रेणी का समझा जाता है जैसे वेश्यावृत्ति।" कहना न होगा कि इस गवाह ने जो गवाही दी वैसा किसी के लिये नशे की हालत में ही देना संभव है, जेल कमेटी ने साफ़ लिख दिया कि वह इस गवाही को न केवल बाहर के लोगों के विरुद्ध बल्कि क़ैदियों के विरुद्ध झूठ समझती है।❋ जो कुछ भी हो वर्त्तमान जेल-व्यवस्था में यह अपराध यथेष्ट होता है। प्रथम कारण तो यह है कि जेल में पुरुष ही पुरुष होने के कारण यह अपराध स्वाभाविक हो जाता है, किन्तु दूसरा ज़बर्दस्त कारण यह है कि जेल के अफ़सर इसको रोकने के लिये कोशिश नहीं करते, बल्कि इसके प्रति उनका रुख अधिक से अधिक सहिष्णुता का है। जेल-कर्मचारी क़ैदियों के भागने को तथा अफ़सरों पर हमलों को या इनकी योजना को जिस गंभीरता से देखते हैं और उसको रोकने की चेष्टा करते हैं, उसकी तीन-चौथाई गंभीरता के साथ यदि वे इस अपराध को देखें तो इसका होना बहुत कुछ असंभव हो जाय। कोठरी, बैरक तथा विशेषकर खुड्डी (*latrines*) की बनावट इस प्रकार की हो कि इस अपराध के लिये कोई मौक़ा ही न लगे। फिर भी यह बात याद रहे कि जब तक क़ैदियों की परिस्थितियाँ बिलकुल स्वाभाविक न कर दी जाय याने जब तक उनको स्वाभाविक रूप से अपनी

❋*Report of the Indian Jail Committee 1919-20 p. 100*

कामप्रवृत्ति को चरितार्थ न करने दिया जायगा, तब तक यह अपराध एकदम बन्द नहीं हो सकता, और जबर्दस्ती बन्द भी किया जा सके तो वह आत्मप्रणय (*auto-erotism*) का रूप धारण करेगा। इस सम्बन्ध में एक बात यह द्रष्टव्य है कि कैदियों की दशा कैदियों से अच्छी नही है। अक्सर स्त्री-जेल से तलाशी में मिट्टी के लिङ्ग आदि प्राप्त होते हैं। अस्तु।

पंजाब का एक प्रयोग, नतीजा

कैदियों से मामूली आदमियों की तरह बर्ताव करने के प्रयोग जहाँ भी हुए, वहाँ ऊपर बताये गये अपराध होते नहीं पाये गये। पंजाब सरकार ने इस सम्बन्ध में एक सफल प्रयोग किया है। मान्टगोमरी से ६० मील पर बुरेवाला नामक स्थान के पास एक खेतिहर उपनिवेश (*farm colony*) बसाया गया। इसमें ५०० कैदियों के लिये जगह है। पहिले कैदी सरकारी फार्म में मजदूर की हैसियत से काम करते हैं, फिर इसको योग्यता के साथ करने के बाद उनको अलग-अलग ज़मीने दी जाती हैं। कैदियों पर किसी प्रकार का कोई पहरा नहीं रहता, उनके ऊपर केवल इतनी रोक है कि वे उपनिवेश छोड़कर एकदम चले नहीं जा सकते। उनकी बीबी-बच्चे सब आकर उनके साथ रह सकते हैं। केवल इसी प्रकार के प्रयोग में यह हम उम्मीद कर सकते हैं कि कैदियों का मैथुनिक चरित्र ठीक रहेगा।

भारतीय जेलों में काम

जेल में कैदियों के लिये सब से महत्त्वपूर्ण बात काम है, किन्तु दुःख है कि भारतीय जेलें अधिकतर १८३८ की जेल-कमेटी की सिफ़ारिश पर चलती मालूम देती हैं जिसमें *to be employed in some dull, monotonous, wearisome, uninteresting task* की सिफारिश की गई थी। चक्की पीसना, रस्सी बटना, खली कूटना,

तेल पेरना इन सब कामों में एक भी ऐसा नहीं है जिसकी मजदूरी या उत्पादन-मूल्य एक आने से लेकर दो आने तक के अन्दर न हो। १९२९-३० की संयुक्त प्रान्तीय जेल-कमेटी ने (जिसके सदस्य सर लूईस स्टुआर्ट, पं० जगतनारायण तथा हाफिज हिदायत हुसैन थे) लिखा कि जेल की पैदावार का सिद्धान्त यों है कि पहिले जेल-विभाग के लिये, फिर सरकार के लिये, फिर जनता के लिये माल पैदा किया जाय। यदि यह सिद्धान्त मान भी लिया जाय तो भी जेल के कामों के लिये काफी गुंजाइश है। मैं इस सम्बन्ध में पहिले पूरा विवेचन कर चुका हूँ, यहाँ केवल यह कह देना जरूरी है कि काम में क़ैदी की दिलचस्पी होने के लिये ये बातें जरूरी है (१) काम उत्पादक हो (२) उसकी मजदूरी का कम से कम कुछ हिस्सा उसे मिले, जिसे वह जमा या खर्च कर सके (३) वह काम ऐसा हो कि क़ैदी के भविष्य जीवन में उपयोगी हो। यदि जापान तथा अमेरिका की जेलों में मशीन का उपयोग किया जा सकता है, तो क्या कारण है कि भारत में ऐसा नहीं किया जा सकता। पहिले ही हम इसका विवेचन कर चुके कि यन्त्र इस्तेमाल करने पर यह जरूरी नहीं कि बाहर के व्यवसाय या उत्पादन-क्रम को उससे नुक़सान पहुँचे। हम समझते हैं कि चक्की, कोल्हू को बिलकुल हटाकर आटा, तेल बाहर से खरीदा जाय। तेल का सवाल आटे से जरा जुदा है। यदि मिल लगाकर तेल पेरा जाय तो उससे क़ैदी को पूरी मजदूरी दी जा सकती है, साथ ही वह तेल शायद विभाग को चुँगी, रेल खर्च आदि देकर भी सस्ता पड़े। हर प्रान्त में किसी सरसों-उत्पादक जिले के पास जेल में, ये मिलें खोली जा सकती हैं। इसके अलावा चमड़े को टैन करना, बाहर के लिये जूता बनाना, गटापार्चा के विभिन्न काम जेल में हो सकते हैं। सरकारी विभागों के लिये एक पेपर-मिल तथा साथ

ही छापेखाने उन प्रान्तों में से हरेक में रह सकता हैं, जहाँ काग़ज़ बनाने का सामान मिल सकता है। क़ैदियों के लिये खेतिहर उपनिवेश खुल सकते हैं, जहाँ विशेषज्ञों की देखरेख में वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक खेती की जा सकती है। इसी के साथ ही मधुमक्खी पालन, रेशम का कीड़ा पालन, मुर्गी और अंडों का काम (*poultry*) तथा गोशाला का काम भी विशेष-विशेष जेल में हो सकता है। सच बात तो यह है कि क़ैदियों से सभी काम लिया जा सकता है। काम अच्छा करनेवाले क़ैदियों की क़ैद का कुछ हिस्सा माफ़ भी होना चाहिये।

क़ैदी को पढ़ने-लिखने की सुविधा आदि

क़ैदी रात में कोठरी में जरूर रहे, किन्तु साथ ही उसे उसके अन्दर पढ़ने, लिखने की सारी सुविधा प्राप्त हो। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। उसे उसके अन्दर से रेडियो के गाने आदि सुनाये जाने की व्यवस्था भी हो तो अच्छा है। याने हर तरीक़े से यह चेष्टा करनी चाहिये कि वह इकरसता (*monotony*) का शिकार न हो जाय। यदि वह इकरसता का शिकार हो गया, तो फिर सुधार का सारा कार्यक्रम ही चौपट हो जायगा।

क़ैदियों में अनुशासन

क़ैदियों में अनुशासन के प्रश्न के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि हमेशा यह याद रक्खा जाय कि उसका उद्देश्य क़ैदी को सुधारना है, न कि उसको बदले का प्यासा बना देना शासन अनुशासन के लिये इसका कोई अर्थ ही नहीं होता। जेल में अनुशासन का पहिला उद्देश्य तो यह होगा ही क़ैदी भाग न जाय, इस उद्देश्य के लिये कुछ रोकटोक, प्रतिबन्ध तो होंगे ही, किन्तु मैं समझता हूँ एक बाहरी डंडे *main-wall* के अलावा और

सभी जगह पर .कैदी इसका इन्तज़ाम आप रख सकते हैं। अनुशासन का दूसरा उद्देश्य तो यह होगा कि .कैदी काम करें, और सुधार के सब तरीक़ों में सहयोग करें। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये विशेषज्ञों की देखरेख में स्वायत्तशासन अच्छा रहेगा। स्वायत्तशासन के बहुत से तरीके हो सकते हैं। एक तो यह है कि, दस-दस .कैदियों का गिरोह बना दिया जाय, और एक के भले-बुरे व्यवहार के लिये सबको ज़िम्मेदार क़रार दिया जाय। इसका वर्णन पहिले आ चुका है। साधारण कैदी बदमाश नहीं होता, वह चाहता है कि किसी प्रकार काम आदि करके जेल का समय कट जाय। वर्त्तमान पद्धति में यह होता है कि कोई कैदी अफ़सर पर हमला करता है, तो मुसीबत उसी पर आती है, हमला करनेवाला .कैदी विशेषकर ऐसे मौके पर तथा ऐसे अफ़सर पर हमला करता है कि वह एक तरह से .कैदियों में वीर हो जाता है। इसलिये एक तो यह बात ज़रूरी है कि अफ़सरों से कैदी का ऐसा सम्बन्ध हो जैसा अच्छे शिक्षक, छात्र को होता है, याने ऐसे हमले के लिये कैदियों में सहानुभूति ही न हो सके। फिर चूंकि सामूहिक ज़िम्मेदारी होगी, इसलिये वे ही .कैदी जो दूर से तालियाँ पीटते थे, अब इसकी बुराई करेंगे, क्योंकि सज़ा या असुविधा सबको भोगनी पड़ेगी। भविष्य में इसका नतीजा यह होगा कि सब लोग अपने गिरोह के लोगों को नियमभंग से रोकेंगे। कामचोर को भी इसी प्रकार क़ब्ज़े में लाया जा सकता है। यदि सज़ायाफ़्ता अपनी चारों ओर के लोगों की आँखों में वीर हो गया, तो सज़ा का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि बेत हो या कोठरी, इस धारणा से सज़ा भुगतना बहुत कुछ आसान हो जाता है। जिस बैरक से कोई कैदी भागे उस बैरक भर के कैदियों को एक हद तक यदि उसके लिये ज़िम्मेदार क़रार दिया जाय, तो भागना बुरा समझा

जाने लगे, और चूँकि बैरक का प्रत्येक आदमी चाहेगा कि ऐसा न हो, इसलिये भागना असंभव हो जायगा। सितम्बर १९४० में एक क़ैदी प्रतापगढ़ जेल की टट्टी का ईंटा हटाकर भाग गया, किन्तु सवेरे बैरक खुलने के बाद जाकर कहीं इस घटना का पता लगा। इसमें स्पष्ट है कि उसके भाग जाने के बाद कुछ कैदी टट्टी या पेशाब जरूर गये होंगे, और उसकी ईंटों को उखड़े हुए पाये होंगे, किन्तु चूंकि उनसे इस भागने का कोई मतलब नहीं था, बल्कि उनको इससे एक प्रकार की खुशी ही हुई होगी, वे पेशाब करके या न करके जाके अपने बिस्तरे पर लेट गये।

जेल में सज़ा क्या और कैसी! — अनशन

यदि सजा देना जरूरी ही समझा जाय तो मैं समझता हूँ कि एकान्तवास की सजा सबसे अधिक असर पैदा करनेवाली होगी, किन्तु सचमुच एकान्तवास हो, यदि कैदी बगल की कोठरीवाले से बात कर सके, तो वह एकान्तवास क्या हुआ। बहुत कम मामलों में बेंत लगाये जायँ, और सजा भी क़ैदियों की राय से दी जाय तो ठीक रहेगा। रूस में जेल का अनुशासन कैदियों के हाथ में बहुत कुछ रहता है, वहाँ अफ़सरों को यह नहीं देखना पड़ता कि अनुशासनभंग पर क़ैदी को क़ैदियों की सभा सख्त सज़ा देती है कि नहीं, बल्कि उनको तो कई बार कैदियों की सभा द्वारा अनुशासन-भंगकारी कैदी को दी गई सज़ा को रद्द या नरम करना पड़ता है। कैदी अनशन करे तो भी ऐसी कोशिश करनी चाहिये कि वह जिस कारण से तथा जो माँग रखकर अनशन कर रहा है उसके साथ क़ैदियों की सहानुभूति न हो। ऐसा तभी हो सकता है जब जेलें इतनी उन्नत हों कि मामूली क़ैदी को कोई शिकायत ही न हो। राजनैतिक क़ैदियों का अनशन दूसरी ही चीज़ है, क्योंकि उन्हें

कैदी जगत की सहानुभूति से मतलब नहीं, बाहरी जगत की सहानुभूति से मतलब है।

यदि वर्त्तमान जेल-पद्धति का बदलना न संभव हो, तो भी उस हालत में मैं सज़ा के रूप में सचमुच एकान्तवास के अधिक प्रयोग की सिफ़ारिश करूँगा। मतभंगा (*cross-bar fetters*), बेड़ो (*bar fetters*) या ज़ंजीरी बेड़ी (*chain fetters*) का दिया जाना तभी उचित हो सकता है जब कैदी भागने की कोशिश कर चुका हो। खड़ी हथकड़ी और रात की हथकड़ी का प्रयोग केवल अप्राकृतिक अपराध में होना चाहिये। यदि कोई कैदी कोई भयंकर जेल-अपराध करे या लगातार अपराध करे तो उसकी मानसिक जाँच होनी चाहिये। संभव है कि उसका कोई मानसिक पुर्जा बिगड़ गया हो। जेल के अधिकतर बदमाश मेरी समझ में मानसिक त्रुटियुक्त है। सज़ा देने के मामले में जेल अध्यक्ष का व्यवहार छात्र के प्रति शिक्षक की तरह हो, इसका उद्देश्य सुधारना है न कि बिगाड़ना, इसलिये यह पता लगते ही कि कैदी अपराध के लिये पश्चात्ताप कर रहा है, अध्यक्ष को यह चाहिये कि सज़ा को रद्द कर दे, और उसे फिर मौक़ा दे।

तिकड़म (*Illegal introduction* या *smuggling*)

जेल के अनुशासन की एक खास बात यह है कि जेल के अन्दर गैरक़ानूनी चीज़ें न आवें न उसके बाहर जावें, याने तिकड़म न हो। हम चाहते तो यह हैं कि एक आदर्श कैदियों की बस्ती (इसको हम जेल न कहेंगे) में कैदी को हरेक वह चीज़ अपनी मज़दूरी से खरीदने दिया जाना चाहिये, याने ऐसी हर चीज़ जो न कोई प्रधान नशा हो न स्वास्थ्य दृष्टि से कोई अपकारी वस्तु हो। मैं समझता हूँ तम्बाकू, पान, सिगरेट, चाय आदि जो चीज़ें एक तरह से बिलकुल निर्दोष समझे जाते हैं, वे कैदियों को दिये जायँ।

ख़ैर यह सब बातें तो तभी हो सकती हैं, जब पद्धति बिलकुल बदल जाय। वर्त्तमान पद्धति में जेल के छोटे कर्मचारी विशेषकर जमादार जेल के अन्दर से चीज़ ले जाते हैं और ले आते हैं, । कहीं-कहीं तो जेल के बाबू या जेलर तक को जेल के अन्दर तिकड़म लाते मैंने देखा है। केवल यह कहना कि चूँकि जमादार कम तनख्वाह पाते हैं, इसलिये तिकड़म करके पैसा कमाते हैं, यह तर्क केवल आंशिक रूप से सत्य है। हम यह ज़रूर चाहते हैं कि कम तनख्वाहवालों की तनख्वाह बढ़े, किन्तु यह कहना कि ये जमादार तनख्वाह बढ़ते ही ईमानदार हो जायेंगे ग़लत है। एक संस्था का एक *tradition* या तरीक़ा हो जाता है, उसको बदलना बड़ा मुश्किल होता है। तिकड़म बन्द करने के लिये बहुत ज़बर्दस्त निगरानी की ज़रूरत है। साथ ही तिकड़म लाता या ले जाता हुआ कोई जमादार पकड़ा जाय तो उसे जेल की सज़ा होनी चाहिये, यह नहीं कि वह आठ आने जुर्माना करके छोड़ दिया जाय। या तो तिकड़म करना क़ानूनी हो जाय, या तो फिर इसको बन्द ही करना पड़ेगा, नहीं तो इसका सारे अनुशासन पर बुरा असर पड़ेगा।

जेल के फाटक पर इन्तज़ाम

तिकड़म बन्द करने का यह भी एक तरीक़ा बतलाया गया है कि फाटक पर जिन जमादारों की नौकरी हो वे कभी जेल के अन्दर न जायँ, क्योंकि ऐसा करने पर उनको जेल के अन्दर के जमादारों के साथ रियायत का बर्ताव करना पड़ेगा। संयुक्त प्रान्तीय जेल-कमेटी ने १९२९-३० में लाहौर सेन्ट्रल जेल में देखा कि वहाँ फाटक पर के सन्त्री भारतीय फ़ौज के पेन्शनयाफ़्ता सदस्य हैं, और उनकी मामूली जमादारों से ऊँची तनख्वाह होती है। चूँकि जेलों में तिड़कम बहुत ही प्रचलित है, इसलिये यह समझने की ज़रूरत मैं नहीं देखता कि यह बन्द हो ही नहीं सकता। यदि सब तरह से कोशिश की जाय

ता तिकड़म अवश्य बन्द हो सकता है, किन्तु इसको बन्द करना अक्सर अफ़सर ज़रूरी नहीं समझते। यदि वे ज़रूरी समझें और इसे बन्द करने की कोशिश करें, तो यह अवश्य ही बन्द हो जाय। फिर भी इतनी बातों का होना ज़रूरी है—

(१) सन्त्री का तथा फाटकवालों का यह कर्त्तव्य हो कि हरेक जाने आनेवाले जमादार, ठेकेदार तथा अन्य लोगों की तलाशी ले।

(२) जो व्यक्ति तिकड़म लाता हुआ, ले जाता हुआ पकड़ा जाय उसका मुक़द्दमा अदालत के सुपुर्द किया जाय।

(३) जो सन्त्री या फाटकवाला किसी जमादार को तिकड़म करते हुए पकड़ ले उसे इनाम दिया जाय।

(४) फाटकवाले तथा सन्त्रियों से जेल के अन्दर काम करनेवाले जमादारों का कोई रिश्ता नहीं रहे।

संक्षेप में अध्याय का सार

कैदियों को सुधारने के लिये जिन सहूलियतों के देने की तथा नियन्त्रण रखने की सिफ़ारिश हमने इस पुस्तक के दौरान में की है, उनको केवल संक्षेप में हम दुहरा दें, उन पर आलोचना तो हम कर ही चुके हैं

(१) कैदियों को रात में कोठरी में रक्खा जाय।

(२) दिन में साथ काम करने, खाने, उठने, बैठने दिया जाय, किन्तु किसी भी हालत में इतना मौक़ा न दिया जाय कि वे कहीं भी अप्राकृतिक अपराध कर सकें।

(३) जो काम कैदी को दिया जाय, वह दिलचस्प तथा इतना उत्पादक (*productive*) हो कि उसकी मज़दूरी में से जेल का खर्च निकाल लेने पर भी कैदी के पास काफ़ी बचे, जिसको वह एक हद के अन्दर खर्च करे, जमा करे, या अपने परिवार को भेज दे।

(४) जेल का अन्दरूनी शासन कैदियों द्वारा चलाया जाय, विशेषज्ञों तथा जेलरों को उनके किये हुए किसी काम को रद्द करने का या *veto* करने का अधिकार हो। इस अधिकार को वे समझकर उपयोग करें।

(५) कैदियों को पढ़ाया, लिखाया जाय तथा इस सम्बन्धी सब तरह की सुविधा दी जाय, केवल यही नहीं यह शिक्षा एक उद्देश्य को सामने रखकर दी जाय।

(६) कैदियों को अधिक से अधिक चिट्ठी तथा मुलाक़ात दी जाय, क्योंकि इनके दिये जाने पर कैदी को हमेशा यह याद रहेगा कि उसे बाहर जाना है, उसका जीवन यहीं सीमित नहीं है। इसका उसके आचरण पर असर पड़ेगा।

(७) कैदियों को खेल (विशेषकर वे खेल जिसमें एक व्यक्ति या सभी चाहे कितने भी अच्छे खिलाड़ी हों, किन्तु यदि अपने गुईओं (*team*) के साथ मिलकर नहीं खेल सकते तो वह खिलाड़ीपन बेकार होगा) की सुविधा दी जाय। जहाँ-जहाँ भी खेल का प्रयोग किया गया है वहाँ-वहाँ देखा गया है कि यह कैदियों के नैतिक स्वास्थ्य को बढ़ाता है।

सब कुछ सुविधा देने पर भी जेल अस्वाभाविक

हम इन्हीं बातों के साथ-साथ एक बात यह भी लिखना चाहते हैं कि इतना करने पर भी जेल-जीवन एक मामले में बड़ा ही अस्वाभाविक हो जाता है, वह यह कि जेल-जीवन में स्त्री-संसर्ग बिलकुल नहीं रहता। कहना न होगा कि यह एक स्वाभाविक इच्छा है। इसलिये कैदियों को साल में छुट्टी दी जाय, या उनसे अपनी स्त्रियों से मिलने दिया जाय।

हमारी बताई हुई बातें कुछ अव्यवहारिक

हमने ऊपर जो सिफ़ारिशें की हैं, उनको यह कहकर उड़ा दिया

जा सकता है कि ये बहुत ही क्रान्तिकारी हैं, वर्त्तमान जेल-पद्धित में इनकी कोई गुंजाइश नहीं। यह बात नहीं कि मैं इस बात को समझता या मानता नहीं हूँ। मैं मानता हूँ, किन्तु साथ ही मैं यह समझता हूँ कि बिना इन बातों को कार्यरूप में परिणत किये अपराध के विरुद्ध हमारी लड़ाई अधूरी रहेगी। हमारा उद्देश्य इस लड़ाई में सफलता प्राप्त करना है न कि वर्त्तमान जेल-पद्धति में लीपापोती करना, या पैबंद लगाकर अपने को धोखा देना। हम चाहते हैं कि हम इसे कार्यरूप में परिणत कर सकें या न कर सकें हमें क्या करना है, इसकी धारणा तो हो जाय। इतना होने पर भी हमारे लिये बिलकुल मूर्खता की बात होगी कि हम केवल आदर्श की उड़ान भरकर चुप हो जायँ।

कुछ व्यवहारिक सिफारिशें

हम इसलिये यह भी देखेंगे कि जेल पद्धति जैसी कि वह अब भारतवर्ष में है उसमें किन-किन सुधारों को अभी भी आवश्यकता है। वे ये हैं :

(१) हवालात में जो बिलकुल नये अपराधी हैं उनको अलग रक्खा जाय, और दूसरों को अलग। कम से कम दो श्रेणी तो हो ही पुलिस कैदी को जेल भेजते हुए उसके सम्बन्ध में पूरी रिपोर्ट दे। लड़कों को नाबालिगों से अलग रक्खा जाय।

(२) साथ रहने के लिये जो बैरक (*association barracks*) हों तथा टट्टियों (*latrines*) पर खास निगरानी रक्खी जाय कि अप्राकृतिक अपराध न हो सके। जिनके सम्बन्ध में यह शक भी हो कि वे अप्राकृतिक अपराध करते हैं उन पर खास निगरानी रक्खी जाय, और उनको साथ के बैरकों में नहीं बल्कि हर हालत में कोठरियों में रक्खा जाय। जेलों में इस समय *imbeciles* तथा *moroninics* याने ऐसे लोगों के होने से जो पूर्णरूप से सही

दिमाग़ नहीं हैं, यह अपराध अधिक होता है, क्योंकि उनकी कम बुद्धि का फ़ायदा उठाकर यह अपराध होता है।

(३) कैदियों को पढ़ाया-लिखाया जाना अनिवार्य हो जाय, किन्तु साथ ही यह शिक्षा एक उद्देश्य को लेकर दी जाय। इसी प्रकार खेल का भी प्रबन्ध किया जाय।

(४) चिट्ठी, मिलाई अधिक से अधिक दी जाय।

(५) कैदी को अपने ज़िले की या पास की जेलों में रक्खा जाय।

(६) साल में दो महीने से अधिक चक्की आदि कड़ी मशक्कत न दी जाय।

(७) अच्छे काम तथा नेकचलनी पर छूट जैसा मिलता है उससे कुछ बढ़ा दी जाय।

(८) कैदी को पूरा राशन दिलवाना और ठीक तरह से पका हुआ दिलवाना जेल के उच्च-अधिकारियों का पहिला कर्त्तव्य हो, यदि रोटी कम या कच्ची बटती हुई पाई जाय तो जेलर से लेकर बटानेवाले वार्डर और जहाँ बट रहा है वहाँ के वार्डर को भी सख्त सज़ा दी जाय। अक्सर जेलों में जब-जब दंगे हुए हैं तो रोटियों की कमी तथा खराबी पर ही हुए हैं।

(९) आई० जी० छूटे हुए कैदियों से तथा अन्य तरीक़ों से बराबर पता लगाते रहें कि कहीं जेलर घूस तो नहीं लेते हैं, या निष्ठुर (*sadist*) प्रकृति का तो नहीं है। वार्डरों को यह अधिकार हो कि वे किसी जेलर के विषय में आई० जी० से शिकायत कर सकें कि वह घूस लेता है और आई० जी० गुप्त रूप से इसकी जाँच करे।

(१०) आई० जी०, कमिश्नर, मैजिस्ट्रेट तथा अन्य सरकारी या गैरसरकारी परिदर्शक जेल में एकाएक पहुँचा करें।

सच बात तो यह है कि वर्त्तमान जेलपद्धति को मौलिक रूप से बिना बदले कैदियों का सुधार असंभव है।

भारतीय क़ानून में प्रोबेशन पर मुक्ति

भारतीय क़ानून में याने *Code of Criminal Procedure* में यह बात तो मौजूद ही है कि दफ़ा ५६२ के अनुसार प्रथम अपराधी ज़मानत के साथ या उसके बग़ैर केवल मुचलके पर छूट सकता है, किन्तु उसके साथ यह शर्त रहती है कि जब यह अदालत द्वारा तीन साल के अन्दर बुलाया जाय तो वह सज़ा भुगतने आवे और इस बीच में नेकचलनी से रहे तथा शान्ति रक्खे। फिर १८९७ के ऐक्ट ८ की ३१ धारा के अनुसार कम उम्र अपराधियों को तम्बीह करके छोड़ दिया जा सकता है, या माता-पिता को सौंपा जा सकता है।

इंगलैंड का प्रोबेशन ऐक्ट

इंगलैंड का *Probation-offender's Act* १९०७ में बना था, इसके अनुसार अदालत किसी भी अपराधी के साधारण चरित्र, पूर्व इतिहास, उम्र, स्वास्थ्य या मानसिक अवस्था को ख़याल में रखकर, या अपराध की तुच्छता से प्रभावित होकर, या जिन परिस्थितियों में अपराध किया गया है उनकी अनिवार्यता को देखकर मुचलका लेकर इस शर्त के साथ छोड़ सकती है कि वह नेकचलन रहे और जब उससे कहा जाय, तब वह आकर सज़ा सुने। यहाँ तक तो यह क़ानून ५६२ से आगे नहीं जाता किन्तु इसके अलावा इस क़ानून के अनुसार अदालत को अधिकार है कि वह अपराधी को एक प्रोबेशन अफ़सर के अधीन रख दे। अक्सर अदालत इस अधिकार का उपयोग करती है। प्रोबेशन अफ़सर कोई पुलिस का आदमी नहीं है। उसको अधिकार है कि वह क़ैदी के पास जावे, उससे समय-समय पर पूछताछ करे, देखे कि वह शर्तों का पालन करता है कि नहीं, अदालत को उसके सम्बन्ध में सलाह दे,

अपराधी की सहायता करे, उससे दोस्ती पैदा करे और जरूरत पड़े तो उसको नौकरी दिलावे। यदि इस प्रकार मुक्त अपराधी फिर भी नेकचलन न रहे तो उसे बुलाकर अदालत पुरानी सजा सुना सकती है। सर एवलिन रग्लस ब्रिस अपनी पुस्तक *English prison system* के पृष्ठ १०६ पर लिखते हैं, "१६०७ का क़ानून पहिले के क़ानून पर काफ़ी तरक्क़ी है। इसके पहिले अपराधी पर जो कुछ रोक थी वह मुचलके का था, किन्तु अब तो प्रोबेशन का जो हुक्म है उससे अदालत बक़ायदा एक प्रोबेशन-अफ़सर नियुक्त करती है, और इस प्रकार केवल मुक्त अपराधी पर अच्छी देखरेख ही नहीं, बल्कि उसको उचित और जरूरी सहायता भी दी जाती है।" ❀

यूरोप के अन्य देशों में प्रोबेशन

यूरोप के दूसरे देशों में प्रोबेशन का तरीक़ा इससे भी अच्छा है। इङ्गलैंड में अपराधी को सजा सुनाने के पहिले ही प्रोबेशन में छोड़ दिया जाता है, किन्तु यूरोप के अन्य देशों में पहिले सजा सुना दी जाती है, जिससे कि अपराधी को पता लगे कि यदि उसने शर्त का पालन नहीं किया तो उसे क्या भुगतना पड़ेगा। उठते-बैठते खाते-पीते यह धारणा हमेशा उनके दिल में रहेगी। अपराधी एक सीमित समय के लिये प्रोबेशन अफ़सर की देखरेख में रक्खा जाता है, इस बीच में यदि वह कोई अपराध करे या बुरे तरीके से जीवन व्यतीत करे, तो उसे सजा में जाना पड़ता है, नहीं तो सजा हटा दी जाती है। अधिकतर पेन्शनयाफ़्ते लोग प्रोबेशन-अफ़सर बनाये जाते हैं। ❀

❀ *Report of the Jail Enquiry Commission, U.P., 1929 30.*

भारत में प्रोबेशन

इसमें सन्देह नहीं कि प्रोबेशन की पद्धति बहुत ही अच्छी है। भारतवर्ष में कई जगह अभी १६३५ के इंडिया ऐक्ट के बाद प्रोबेशन तथा प्रथम अपराधियों के सम्बन्ध में क़ानून बने। इनकी ज़रूरत इसलिये पड़ी कि ५६२ की कार्रवाई एक सरकारी मुख़बिरों के अलावा बहुत ही कम लोगों के मामलों में की जाती थी, किन्तु फिर भी इन प्रोबेशन ऐक्टों से वे फ़ायदे नहीं हो सकते जो यूरोप में होते हैं, क्योंकि यहाँ प्रोबेशन अफ़सरों की नियुक्ति नहीं हुई है। नतीजा यह है कि प्रोबेशन एक तरह की माफ़ी-सा हो जाता है। संभव है इससे अपराधी यह समझे कि उसे एक बार अपराध करने का हक़ है। शायद इसी परेशानी से बचने के लिये संयुक्त-प्रान्त के प्रोबेशन ऐक्ट में एक तिहाई कैद कटने के बाद ही अपराधी प्रोबेशन में छूटने का अधिकारी हो इसका विधान रक्खा गया है।

भारत में प्रोबेशन अफ़सर की नियुक्ति

प्रोबेशन तथा प्रथम अपराधी सम्बन्धी क़ानून से तभी अपराध पर ढंग की रोकटोक हो सकती है, जब प्रोबेशन-अफ़सर हों। ये प्रोबेशन-अफ़सर सरकारी तनख़्वाह पानेवाले तो हों, किन्तु गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा नियुक्त हों। यदि ये केवल गैरसरकारी संस्था के लोग हों, और बिना वेतन के हों तो मेरा विचार है कि अधिकांश क्षेत्र में कुछ न कुछ करेंगे, किन्तु जो लोग वेतनधारी होंगे साथ ही, बिलकुल सरकारी आदमी न होंगे, वे अधिक काम करेंगे, साथ ही उनको अधिक काम करने का मौक़ा मिलेगा। अच्छा हो कि *D.P.A.S.* याने मुक्त-बंदी-सहायक समिति के लोग इसके लिये आदमी चुनकर भेजें, यह चुनाव वे अपने अन्दर के आदमियों में न कर भूतपूर्व अध्यापकों में से करें।

अनिश्चित सज़ा

प्रोबेशन तोय ह है कि अपराधी को बिना सज़ा दिये ही, या देकर भी, बिना भुगताये ही, या कुछ अंश भुगताये ही छोड़ देना, किन्तु ठीक इसी की पूरक योजना (*supplementary scheme*) अनिश्चित-सज़ा (*indeterminate sentence*) का है। इसका उद्देश्य यह है कि प्रथम अपराधियों को मौक़ा दिया जाय, शायद वे सुधर जायँ, किन्तु दूसरे का उद्देश्य यह है कि जिनको बार-बार मौक़ा दिया गया, उनको अब मौक़ा तब तक नहीं दिया जाय, जब-तक कि यह विश्वास न हो जाय कि वे सुधर गये। इस सम्बन्ध में दूसरे देशों में क्या-क्या प्रयोग हुए, तथा क्या विचार हैं इसका वर्णन पहिले ही आ चुका है। भारतवर्ष में ऐसा कोई क़ानून अभी नहीं है, जिसके अनुसार किसीको अनिश्चित सज़ा दी जा सके। यहाँ इसी जरूरत को कुछ हद तक पूरी इस तरह कर ली जाती है कि अदालत एक ही अपराध में पहिले की क़ैदों की संख्या के अनुसार सज़ा बढ़ाती जाती है। इसी प्रक्रिया के अनुसार मैंने कई चोरी के अभियुक्तों को आजीवन कारावास की सज़ा पाते देखा है। इस प्रथा के अनुसार क़ैदी अपनी सज़ा भुगतने के बाद आज़ाद हो जाता है, किन्तु यदि फिर अपराध करता है, तो उसको पहिले से लम्बी, अक्सर दुगुनी सज़ा दी जाती है। कहना न होगा कि इस तरीके को एक हद तक ही ठीक समझा जाता है। यदि एक व्यक्ति वर्षों तक लगातार मौक़ा दिये जाने पर भी नहीं सुधरता, तो उसको फिर अपराध करने के लिये छोड़ना, फिर फ़रार होने देना, फिर पकड़ना यह बिलकुल ग़लत है। अनिश्चित सज़ा का पक्षपाती यह कहेगा कि जब तक उससे यह उम्मीद न हो कि वह नागरिकता का बर्ताव करेगा, तब तक उसे छोड़ा ही क्यों जाय।

कैदी सुधरा कैसे ज्ञात हो

यहाँ पर हमारा माथा फिर उसी चट्टान पर आकर टकराता है कि वर्त्तमान जेल-पद्धति ही ग़लत है। फिर अनिश्चित सज़ा का सिद्धान्त मान लेने पर भी सवाल उठता है कि कैसे यह मालूम हो कि .कैदी अब सुधर गया? क्या यह इस बात से तय की जाय कि जेल में उनका कैसा व्यवहार रहा है? जेल में .कैदी की कैसी चाल-चलन है यह तो उसकी पेशियों के चार्ट (*chart*) से लगाया जाता है। इस पर सर लुईस स्टुअर्ट, हाफिज़ हिदायत हुसैन तथा पं० जगत नारायण कहते हैं :—

"*Jail behaviour means nothing, because if a criminal has some resource plus a sense of proportion, his peshi chart will be blank*" याने 'जेल की चालचलन का कोई अर्थ ही नहीं होता, क्योंकि यदि अपराधी में साधारण बुद्धि के साथ-साथ उसके कुछ और मददगार हों तो उसका पेशी-चार्ट खाली रहेगा, ऐसी हालत में स्पष्ट है कि पेशी का चार्ट किसी भी प्रकार यह नहीं बता सकता कि कैदी सुधरा या नहीं। इसलिये अनिश्चित सजा के साथ ही हमें इसकी व्यवस्था करनी पड़ेगी कि बिलकुल सही तौर पर यह मालूम हो जाय कि जेल में .कैदी का व्यवहार वाक़ई कैसा है। फिर इसके साथ ही यह याद रहे कि एक व्यक्ति जेल में सचमुच नेकचलनी से रहता है, तो इसका अर्थ यह कैसे लिया जा सकता है कि बाहर भी वह सामाजिक रूप से चलेगा। जेल में मनुष्य पर सैकड़ों रोकटोक रहती हैं, पग-पग पर सज़ा का हौआ सामने बना रहता है, फिर जेल का कर्मक्षेत्र भी छोटा होता है, प्रलोभन जेल में कम होते हैं; इसलिये यदि जेल में कोई बिलकुल नेकचलन भी रहे तो बाहर वह ऐसा रह सकेगा इसका प्रमाण क्या है? इस बात का तो तभी पता लग सकता है जब .कैदी का दायरा बढ़ाकर उसकी जाँच की जाय कि

वह नये प्रलोभनों के होते हुए अब कैसा व्यवहार करता है। इस जाँच के लिये निष्पक्ष और अच्छे विचारों के व्यक्तियों की जरूरत है। मेरा तो यह विचार है कि यतीमखानों के लड़कों को जितनी आजादी रहती है कम से कम उतनी आजादी देकर के ही जब कैदी की जाँच की जाय तभी अनिश्चित सजा का प्रयोग सफल हो सकता है।

पैरोल

पैरोल भी प्रोबेशन से मिला ही हुआ है। डाक्टर गिलिन ने अपनी पुस्तक *Criminology and penology* में पैरोल की अमेरिका में जो व्याख्या प्रचलित है उसे यों व्यक्त किया है—*In U. S. A. probation is a method of correcting delinqunency without the use of prison. Parole on the other hand is the release from a correctional institution, under the control of the correctional institutions* याने "अमेरिका में जेल में बिना भेजे अपराध को रोकने के उपाय को प्रोबेशन कहा जाता है, किन्तु पैरोल उस तरीके को कहते हैं जिसमें किसी सुधारकारी संस्था से अपराधी छूटकर केवल किसी सुधारकारी संस्था की देखरेख में हो जाता है।" इस परिभाषा के अनुसार संयुक्त-प्रान्त का प्रोबेशन ऐक्ट न प्रोबेशन है न पैरोल। भारतवर्ष में पैरोल तो कुछ है ही नहीं, और जो पैरोल के नाम से है वह बिलकुल दूसरी चीज है। भारतवर्ष में जो पैरोल पर छूटना है, वह एक तरह से शर्त पर छूटना है। बहुत ही कम इसका प्रयोग होता है, और जो कुछ भी प्रयोग होता है वह राजनैतिक कैदियों के लिये एक सीमित समय जैसे पन्द्रह दिन, एक महीने के लिये होता है। पैरोल में छूटते समय कैदी को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह इस बीच में किसी प्रकार के राजनैतिक कार्य में भाग न लेगा, साथ ही वह समय जो वह बाहर बिताता है उसकी कैद में नहीं गिना

जाता है। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की पैरोल पर छुट्टी हरेक ऐसे कैदी को जो खतरनाक नहीं है हर तीसरे महीने सात दिन के हिसाब से दी जानी चाहिये। खतरनाक से मेरा मतलब इस जगह पर उन लोगों से है

(१) जिनसे यह खतरा न हो कि वे भाग जायेंगे, और भाग जाने पर समाज के लिये विशेष अहितकर साबित होंगे।

(२) जिनसे यह डर हो कि वे छूटने का फ़ायदा अपराध करने के रूप में उठायेंगे।

पैरोल का अधिक प्रयोग किया जाय

किन्तु इन दोनों बातों को बहुत ही उदारता के साथ देखना चाहिये, जब तक कोई खास कारण न हो कोई भी पैरोल के अयोग्य न समझे जायँ। केवल मेरे बताये हुए तरीके पर पैरोल होने पर ही जेल की वर्त्तमान पद्धति इस बहुत-थोड़े से सुधार से ही एक मानवीय (*human*) संस्था हो जायेगी। साथ ही जो पैरोल पर न छोड़े जा सकें उनके लिये अपनी स्त्रियों से पति रूप से मिलने की व्यवस्था जेल-विभाग करे, सुनने में यह बात ज़रा खराब मालूम देगी, किन्तु स्पेन की अल्पकाल-जीवी प्रजातान्त्रिक सरकार के कार्यक्रम में यह बात थी।

ज़रायमपेशा जातियों की बस्ती

भारतवर्ष में अपराधियों को आजादी देकर रखने की चेष्टा नहीं की गई यह बात नहीं। यहाँ एक क़ानून है जिसको *Criminal Tribes Act* कहते हैं। यह १६११ में पास हुआ था। इसके अनुसार भारत सरकार ने कई क़ौमों को सम्पूर्णरूप से ज़रायमपेशा क़रार दे दिया। ऐसे लोगों की हर प्रान्त में बस्तियाँ खोली गईं। कुछ बस्तियाँ सीधा सरकार के अधीन हैं, कुछ जेल-विभाग के

अधीन हैं, कुछ मुक्ति सेना (*Salvation Army*) के अधीन हैं। जो जातियाँ आंशिक रूप से या पूर्णरूप से जरायमपेशा क़रार दी गई, उनमें ये प्रमुख हैं (१) येरुकुल, (२) डोङ्ग, येरुकुल, (३) कैकाड़ी, (४) छप्परबन्द, (५) हरशिकारी, (६) माङ-गराड़ि; (७) भाट, (८) बेराड़, (९) भाँतू, (१०) हबूड़ा, (११) साँसी, (१२) कंजड़, (१३) मँगैया डोम इत्यादि। इन बस्तियों का इन्तज़ाम भिन्न प्रकार से है, कहीं-कहीं तो इनमें आज़ादी अधिक है, कहीं कम। कहीं तो लोग बस्तियों के अन्दर आज़ाद रहते हैं, कहीं उनको एक रोकटोक के अन्दर बाहर भी जाने का अधिकार है। मुक्ति-सेना के अधीन संयुक्त-प्रान्त तथा मद्रास में कई बस्तियाँ हैं, इनका उद्देश्य किसी भी तरह ईसाई धर्म का प्रचार है। इनके परिचालकों को अपराधियों का कोई ज्ञान नहीं है, इसके फलस्वरूप उनका व्यवहार ग़लत होता है। इसी प्रकार सब बस्तियों का हाल है।

किसी क़ौम को जरायमपेशा क़ौम क़रार देने की पालिसी

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि यह कहाँ तक उचित है कि एक क़ौम के क़ौम को जरायमपेशा क़रार दिया जाय। यह नहीं कि हिन्दुओं की ही कुछ जातियाँ जरायमपेशा रही है, बल्कि विसापुर में मुसलमानों के अन्तर्गत हूर (*Hur*) जाति की बस्ती बम्बई प्रान्त में थी। सरकार ने यह जो क़ौम के क़ौम को जरायमपेशा क़रार दिया इसका किसी भी आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकता। यह माना जा सकता है कि शिक्षा के अभाव के कारण, तथा अन्य आर्थिक-सामाजिक कारणों से किसी जाति में अपराध अधिक होता है, किन्तु यह कहना कि वे हमेशा ऐसा ही रहेंगे बिल्कुल ग़लत ख़याल है। रूस में बड़ी-बड़ी जाहिल बद्दू क़ौमों को धीरे-धीरे शिक्षा

देकर तथा उनकी आर्थिक परिस्थितियाँ बदलकर बिल्कुल सभ्य तथा सामाजिक बना दिया गया।

क़ैदियों की बस्ती का एक आदर्श

मेरी राय है कि जैसी बस्तियाँ कथित जरायमपेशा जातियों के लिये है, वैसी मामूली अपराधियों, कम से कम लम्बी क़ैद के अपराधियों के लिये खुलें। कुछ दिन जेल में रखने के बाद ऐसी बस्तियों में क़ैदी को रक्खा जाय। उनकी इस प्रकार की बस्तियों के चारों ओर दीवार रहे या न रहे, यह इस बात पर अवलम्बित है कि वहाँ जो क़ैदी रक्खे जाते हैं वे पहिले दी हुई हमारी परिभाषा के अनुसार ख़तरनाक हैं या नहीं। ऐसी बस्तियों में पंडित-मूर्ख पादरियों का राज्य रहने के बजाय अन्दरूनी मामलों में सम्पूर्ण स्वायत्त-शासन रहे। ऐसी बस्तियों के लोग केवल बस्तियों के अन्दर ही काम करें यह नहीं जिन क़ैदियों को बस्ती में अच्छा काम करते हुए यथेष्ट दिन हो जाय, उनको बस्ती से बाहर रेल आदि में नौकर करा दिया जाय। इस प्रकार कैदी को एक (*graded*) या सीढ़ी दर सीढ़ी स्वाधीनता की ओर ले जाया जाय।

छूटने के बाद क़ैदी की निगरानी

भारतवर्ष में क़ैदी के छूटने के बाद उसके सम्बन्ध में किसी को भी कोई फ़िक्र नहीं होती। वह चाहे कहीं जाय, काम करे या न करे, किसीको उससे कुछ मतलब नहीं। हाँ यदि वह *Police Registered* याने पुलिस द्वारा रजिस्ट्रीशुदा है, तब तो अत्यन्त भद्दे तरीक़े से उसकी निगरानी की जाती है। इस निगरानी का तरीक़ा यह होता है कि थाने से एक पुलिस का मामूली सिपाही छूटे हुए क़ैदी के घर रात को जाता है, और उसे आवाज़ देता है। यदि वह घर पर होता है, और आवाज़ देता है, तो खैरियत, नहीं तो पुलिसवाले

उसे .गैरहाज़िर होने में चालान करते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि इस निगरानी से अपराध पर रोकथाम कैसे होती है। मान लीजिये पुलिसवाला रात ग्यारह बजे आकर लौट जाता है, तो फिर वह लौट के तो नहीं आयेगा, ऐसी हालत में वह रात भर चाहे जो कुछ कर सकता है। फिर क्या अपराध करने के लिये रात ही चाहिये, दिन में क्या अपराध नहीं हो सकते? इस निगरानी के फलस्वरूप छूटे हुए .कैदी का यदि कोई काम भी लगा हो, तो वह छूट जाता है, और वह इस प्रकार एक बड़ी हद तक अपराध की ओर लौटने में वाध्य होता है। फिर पुलिस जैसी कि वह है, उसकी निगरानी का कोई मूल्य नहीं। पुलिसवाले अक्सर बदमाशों से घूस ले लेते हैं, इसलिये वे निगरानी की झूठी रिपोर्ट देंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

छूटने के बाद .कैदी के सामने समस्या

छूटे हुए .कैदी की क्या हालत होती है यह मिस्टर वाइनस ने अपने *Crime and punishment* नामक पुस्तक में लिखा है ❀—

"*The most terrible moment in a convict's life is not that in which the prison door closes upon him, shutting him out from the world, but that in which it opens to admit of his return to the world, having lost his character, and standing among men having suffered for months or years from the deprivation of pleasures to which he was accustomed, having little if any money in his pocket to meet necessary expenses.*"

याने "एक कैदी के लिये सबसे भयंकर मुहूर्त वह नहीं है, जब वह अपने को जेल के अन्दर और जेल के किवाड़े दुनिया को उससे काट देते हैं, किन्तु वह होता है जब कि वह दुनिया में लौटता है। इस समय उसके चरित्र की ख्याति नष्ट हो चुकी है, धन्धा जाता रहा है, वर्षों से वह उन बातों के अभावों को भोग रहा है, जिनका वह अभ्यस्त था, साथ ही उसकी जेब में एक कानी कौड़ी भी नहीं है, और है भी तो बहुत कम।"

भारत में मुक्तबंदी-सहायक-सभाओं की स्थापना

इन्हीं बातों को देखकर विभिन्न देशों में विभिन्न तरह की संस्थायें बनी। भारतवर्ष में जगह-जगह पर मुक्तबन्दी-सहायक-सभायें (*Discharged Prisoners' Aid Society*) बनीं। मजे की बात है कि १८७७ में भारत सरकार की ओर से जो जेल-कान्फरेन्स बैठी, उसने मुक्तबन्दी सहायक-सभाओं के बनने का यह कहकर विरोध किया कि भारत में छूटने के बाद कैदियों को समाज में प्रवेश करने में कोई दिक्कत नहीं होती।(❀) यह एक अजीब बात थी। जो कुछ भी हो इस प्रकार के दकियानूसों के होते हुए भी मुक्तबन्दी-सहायक-समितियाँ बनती गईं और अब वे धीरे-धीरे शक्तिशाली हो रही हैं। भारतवर्ष में न तो प्रोबेशन अफसर हैं न प्रोबेशन संस्थायें, साथ ही यहाँ की पुलिस बड़ी बेखबर हैं, बल्कि उसकी पद्धति ही खराब है, इसलिये मुक्तबंदी सहायक-समितियों पर बड़ा भारी बोझ है। मुक्तबन्दी-सहायक-समितियों के इतने काम होने पड़ेंगे—

(१) कैदी के छूटने के पहिले ही जेल में जाकर उसके भीतर की तथा बाहर की परिस्थिति का पता लगाना।

❀ *Ibid, p. 188.*

(२) यदि यह पता लगे कि बाहर छूटते ही उसके सामने रोटी का सवाल बेकारी का रूप धारण करेगा तो उसको नौकरी दिलवाना।

(३) यदि यह समझा जाय कि पहिले के साथियों तथा परिस्थितियों में लौटकर छूटा हुआ कैदी फिर अपराध करने लगेगा, तो उसको इस बात के लिये राज़ी करना कि वह नई परिस्थिति में अपना जीवन शुरू करे।

(४) इस बात की निगरानी रखना कि कहीं पुलिस बेजा तरीके से उन पर दबाव तो नहीं डालती, या उसे मजबूर तो नहीं करती कि वह अपराध के जीवन में लौट जावे।

(५) हर तरह से उस पर निगरानी रखना और यदि यह पाया जाय कि वह बुरी सोहबत में पड़ गया, तो उसे तम्बीह करना, ज़रूरत पड़ने पर यह तम्बीह अदालत से दिलवाना।

(६) सब प्रकार से मुक्तबन्दी का (*friend, philosopher and guide*) याने दार्शनिक और पथप्रदर्शक होना।

मुक्तबन्दी सहायक सभा कैसी

यह सब कार्य सुचारु रूप से मुक्तबन्दी के सहयोग से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि समिति को सरकार का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो, साथ ही यह भी ज़रूरी है कि संस्था बिल्कुल सरकारी न हो नहीं तो वह भी पुलिस का एक मुहकमा हो जायगा। केवल एक या दो व्यक्ति जिनको सभा की ओर से दौड़धूप, निगरानी आदि के लिये नियुक्त किया जाय सरकार से एक भत्ता पावें, किन्तु समिति को यह अधिकार हो कि चाहे जब इन व्यक्तियों को बदल दे। यदि छूटे हुए कैदियों की अच्छी तरह देखरेख हो तथा उन्हें जिन मौक़ों पर जितनी हद तक मदद की ज़रूरत है, उतनी दी जायतो

दुबाड़ापन (*recidivism*) के लिये ही बहुत कुछ परिस्थित जाती रहे। जैसे रोगी को धीरे-धीरे साधारण जीवन में लौटाया जाता है, उसी प्रकार अपराधी को धीरे-धीरे साधारण कर्म-जीवन में लौटाया जाना चाहिये।

जेल के सम्बन्ध में वक्तव्यों का सार

यहाँ पर हम सुविधा के लिये जेल के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य को संक्षिप्त रूप से कह देते हैं।

(१) जहाँ तक हो सके किसी व्यक्ति को जेल में न भेजा जाय। तम्बीह कर, जुर्माना कर, प्रोबेशन पर छोड़ दिया जाय। यदि अपराधी कम-उम्र है तो उसे बोरस्टाल में या रिफार्मेटरी में भेजा जाय।

(२) जेल के अन्दर यदि व्यक्ति आ ही गया तो उसके साथ उतनी ही तथा उसी प्रकार की सख़्ती की जाय जिस प्रकार डाक्टर रोगी पर करता है। जेल के अन्दर जहाँ तक हो सके उसे स्वायत्त-शासन दिया जाय, और उसकी असामाजिक आत्मकेन्द्री (*egotist*) प्रवृत्तियों को दबाकर सामाजिक प्रवृत्तियों को बढ़ने का मौक़ा दिया जाय।

(३) जेल के अन्दर उसके व्यवहार को सन्तोषजनक समझते ही उसे धीरे-धीरे सीढ़ी दर सीढ़ी मुक्त कर दिया जाय।

(४) छूटने के बाद उसे समाज में फिट हो जाने की हरेक सुविधा दी जाय।

अपराध-विज्ञान के कुछ विद्वान और उनके मत

अपराध-विज्ञान का सारा दायरा हमारे सामने संक्षिप्त रूप से आ चुका। इस विवेचन के दौरान में हमने बारबार विभिन्न विद्वानों का नाम लिया है, किन्तु अपराध-विज्ञान के कुछ बुज़ुर्ग ऐसे हो गये हैं जिनके मतों का संक्षिप्त परिचय फिर भी अलग से कराने की ज़रूरत है, नहीं तो विषय कुछ अपूर्ण रह जायगा।

अपराधी के सम्बन्ध में अभिनव दृष्टिकोण

अपराधियों की ओर सबसे पहिले-पहल विद्वानों की दृष्टि उसी युग में गई जब यूरोप सामन्तवाद से पूँजीवाद की ओर क़दम रख रहा था। यह एक विराट परिवर्तन का युग था, उत्पादन की पद्धति में क्रान्ति होने के कारण सभी क्षेत्र में, चाहे वह सामाजिक हो, चाहे व्यक्तिक मूल्य परिवर्तित हो रहे थे। पहिले अपराध की ओर लोग एक कुसंस्कारपूर्ण (*superstitious*) दृष्टि से देखते थे, किन्तु अपराधी की ओर समाज के एक अंग के रूप में लोगों की दृष्टि गई। बेक्कारिआ नामक विद्वान ने इटली में, बेन्थाम ने इंगलैंड में और फायरबाख ने जर्मनी में नवयुग की नई दृष्टि में अपराध को देखा। मध्ययुग में जो लोमहर्षणकारी कठोर सज़ायें अपराधियों को दी जाती थीं, उनके विरुद्ध इन्होंने विद्रोह का झंडा बुलंद किया। उस समय के प्रचलित तरीक़े में जज के लिये यह

❀ *Criminalogy and Penology by Dr. J Gillin*

संभव था कि वह अपने व्यक्तिगत शत्रुओं पर बदला ले। क़ानून में केवल इतना विधान था कि सबसे कम सज़ा यह है, और जज को अधिकार था कि अभियुक्त को परिस्थिति के अनुसार जितनी चाहे उतनी सज़ा दे।* इसका बहुत ही दुरुपयोग होता था, सच कहा जाय तो कोई न्याय ही नहीं था।

बेक्कारिआ

बेक्कारिआ ने १७६४ में "अपराध और सज़ा" लिखा। इस पुस्तक का कई भाषाओं में अनुवाद हुआ। बेक्कारिआ पर उस युग के राजनैतिक दर्शन का विशेषकर रूसो का प्रभाव पड़ा। बेक्कारिआ ने लिखा "प्रभावशाली सबल लोगों की मूर्खता तथा आलस्य की बलिबेदी पर ग़रीबों का चढ़ते रहना कहाँ तक ठीक है? नाहक़ में भयंकर अत्याचार किये जाते हैं, और इनकी संख्या दिन बदिन बढ़ती जाती है, फिर ये अत्याचार भी क्यों किये जाते हैं देखा जाय तो मालूम होगा कि अपराध कभी तो प्रमाणित हुए, किन्तु अक्सर उसके पहिले ही या क़तई न होने पर भी ये अत्याचार किये जाते हैं। कुछ अपराध तो ऐसे लगाये जाते हैं जो हो ही नहीं सकते। जेलों की हालत यह है कि वे गंदगी और बीमारियों के घर हैं, तिस पर जेल में जो पहुँच गया उसके लिये सबसे बड़ी यन्त्रणा तो यह है कि उसे मालूम ही नहीं होता कि उसके साथ क्या होने जा रहा है। आश्चर्य तो यह है कि इन बातों की ओर अभी उन लोगों का ध्यान नहीं गया जो मानव-जाति के भाग्य के एक प्रकार से विधायक हैं।"

समसामयिक न्याय-दान पद्धति का बेक्कारिआ द्वारा विरोध

बेक्कारिआ ने इन बातों का विरोध किया—

(१) जज लोगों की दी हुई मनमानी सज़ा, जिसके कारण के

* *Criminology and Penology by Dr. J. Gillin.*

रूप में वे यह बतलाते हैं कि वे क़ानून के मतलब (*spirit*) को अदा कर रहे हैं।

(२) क़ानून की गिचपिच और इसलिये उसकी अनिश्चयता।

(३) संदिग्ध गवाहों की गवाही को ग्रहण करना, साथ ही वाही में जो बातें कही जा सकती हैं।

(४) गुप्त रूप से दोषारोपण।

(५) शारीरिक अत्याचार (*torture*)।

(६) अपराधी को फँसाने के उद्देश्य से उससे क़समें दिलवाना।

(७) सज़ा के पहिले अभियुक्त को जो दीर्घ काल तक बन्द रक्खा जाता है।

(८) सज़ा देने में धनियों के साथ पक्षपात और ग़रीब पर सख़्ती।

(९) धन के विरुद्ध किये गये अपराध जैसे डकैती पर जो भयंकर सज़ा होती है।

(१०) बहुत ही छोटे-मोटे अपराधों में भयंकर सज़ा।

(११) प्रायः देशनिकाला दिया जाता है तथा सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जाती है, इस प्रकार जो निर्दोष परिवारों को बर्बाद कर दिया जाता है।

(१२) मृत्युदंड।

(१३) जज का अपने मित्रों के साथ पक्षपात और मित्रहीन पर सख़्ती।

(१४) ऐसे अपराधों में सख़्त सज़ा जिनका प्रमाण पाना ही मुश्किल है जैसे आत्महत्या, व्यभिचार, अप्राकृतिक अपराध, चोरी से चीज़ मँगाना या भेजना।

(१५) माफ़ी देने की शक्ति का दुरुपयोग।

सुधार के लिये बेकारिआ की योजना

अपने युग के प्रभाव के अनुसार वे चहाते थे कि सभी क्षेत्रों में समता स्थापित हो। वे चाहते थे कि—

(१) जज लोग क़ानून न बनावें। बल्कि क़ानून बनाने के अधिकारी (*legislators*) बनावे।

(२) जज का काम केवल इतना हो कि अपराध प्रमाणित होने पर सज़ा सुनावें।

(३) क़ानून स्पष्ट हों जिससे अपराधी को ज्ञात हो कि उसे क्या होनेवाला है।

(४) अपराधी की हैसियत चाहे कुछ भी हो उसको सज़ा उचित मिले।

(५) सज़ा का उद्देश्य यह हो कि अपराधी अपने अपराध को फिर से न करे, और दूसरे बाज़ आवें।

(६) पंचम उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जब कि अपराधी को निश्चय हो कि अपराध करने पर सज़ा अवश्य होगी, और तुरन्त होगी; सज़ा की सख़्ती से कुछ न होने का।

(७) राष्ट्र अपराध पर रोक-थाम के लिये इन बातों को करे (अ) क़ानून साफ़ और स्पष्ट हों (ब) देश की सारी शक्ति क़ानून पीछे हो (स) क़ानून किसी श्रेणी या व्यक्ति के साथ पक्षपात न करे।

(८) सज़ा सार्वजनिक रूप से दी जाय।

बेकारिआ कहते हैं "सज़ा का रूप ऐसा न हो कि वह व्यक्ति के विरुद्ध समूह का संगठित बदला जँचे।"❀

❀*Criminology and penology by Dr. J. Gillin.*

१७९१ का क़ानून

जब फ्रान्स की राजक्रान्ति हुई तो बेक्कारिआ के "एक अपराध में एक सज़ा" सिद्धान्त के कार्यरूप में परिणत होने की बारी आई, और १७६१ का जो क़ानून (*code*) बना, वह इसी सिद्धान्त के आधार बना। बेक्कारिआ ने यह नारा अपने ज़माने की विषमता को देखते हुए दिया था, किन्तु जब कार्यरूप में यह प्रयोग आया और पागल और सहीदिमाग़, बालिग़ और नाबालिग़, अविकसितबुद्धि और विकसितबुद्धि सबको एक सज़ा दी जाने लगी, तब इस नारे की ग़लती मालूम हुई। जज को अब केवल एक ही अधिकार रहा, वह यह कि वह बतलावे कि अपराधी किस दोष का दोषी है, फिर तो उसके करने का कुछ नहीं रहता था, क्योंकि प्रत्येक अपराध के लिये सज़ा बँधी हुई थी। १७६१ के क़ानून में न तो अपराध किन परिस्थितियों में किया गया इसको ख़्याल में रखकर सज़ा कम की जा सकती थी, साथ ही अपराध जिस क्रूरता के साथ किया गया है उसको देखते हुए कुछ सज़ा में सख्ती या अधिकता भी नहीं की जा सकती थी।

बेक्कारिआ और क्लासिकल स्कूल

अपराधविज्ञान का एक स्कूल था जो क्लासिकल स्कूल कहलाया, किन्तु इसमें बेक्कारिआ की बातें पूर्णरूप से नहीं मानी गई। बेक्कारिआ के साथ यह स्कूल मानता था कि (१) मनुष्य एक स्वतंत्र-नैतिक पात्र (*free moral agent*) है और वह जो कुछ भी करता है वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से करता है, (२) इसलिये वह अपने कामों के लिये ज़िम्मेदार है; किन्तु बेक्कारिआ के विपरीत वह यह मानता था कि (३) अपराध का प्रायश्चित्त सज़ा से ही हो सकता है। क्लासिकल स्कूल साथ ही बेक्कारिआ की तरह मानता था

कि (४) क़ानून न कि जज सज़ा का विधान करे, और सबको एक अपराध में बराबर सज़ा मिले।

१८१० का फ्रेंच कोड

१८१० के फ्रेञ्च कोड में १७६१ के क़ानून में सज़ा में जो अवैज्ञानिक समता थी, उसको दूर कर दिया गया। अवश्य जैसा कि हम पहिले बता चुके हैं, यह जो नई बात हुई, इसके पीछे जो वैज्ञानिक कारण था, उसकी आड़ में और भी बातें थीं। इसीसे नवक्लासिकल-(*Neo-classical*) स्कूल की उत्पत्ति हुई। इसके अनुसार अपराधी को उस हालत में सज़ा से बरी कर देना चाहिये, जब कि यह मालूम हो कि उसने जिन परिस्थितियों में अपराध किया, उनमें वह अपनी स्वतंत्र इच्छा का उपयोग नहीं कर सकता था तथा उसे आंशिक सज़ा मिले, जब यह साबित हो कि वह अपनी स्वतंत्र इच्छा का आंशिक उपयोग ही कर सकता था।

चेसारे लोम्ब्रोसो

इटली में अपराध-विज्ञान की चर्चा सबसे अधिक हुई। चेसारे लोम्ब्रोसो, एनरिको फेरि, राफाएले गारोफालो का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। चेसारे लोम्ब्रोसो का जन्म १८३६ में एक यहूदी परिवार में हुआ। उन्होंने पहिले-पहल एक पुस्तिका लिखी जिसका नाम था "मनुष्यविज्ञान, क़ानून और मनोचिकित्सा की दृष्टि में अपराधी" (*The criminal in relation to anthropology, jurisprudence and psychiatry*), इसमें उन्होंने पहिले-पहल अपने मत को भ्रूण रूप में रक्खा। लोम्ब्रोसो अपराध-विज्ञान के *positive school* के प्रधान समर्थक समझे जाते थे। लोम्ब्रोसो के मत का विस्तृत विवेचन हम पहिले ही कर चुके हैं। लोम्ब्रोसो १९०९ में मरे।

एनरिको फेरि

एनरिको फेरि का जन्म १८५५ में हुआ। वे लोम्ब्रोसो के छात्र थे। १८८४ में उन्होंने *Homicide* (नरघात) नामक एक पुस्तक लिखी। फेरि ने लोम्ब्रोसो की तरह अपराधी के व्यक्तित्व पर ही सारा जोर न देकर सामाजिक कारणों पर अधिक ज़ोर दिया, और उन कारणों का स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन तथा प्रतिपादन किया। उनकी लिखी हुई "अपराध-सम्बन्धी समाजविज्ञान' (*Criminal Sociology*) एक बहुत ही तथ्यपूर्ण पुस्तक है। अपराध के कारणों को उन्होंने इस प्रकार विभाजन किया (क) भौगोलिक कारण, जैसे स्थान, आबोहवा, गर्मी, सर्दी (*temperature*) (ख) मनुष्य-विज्ञान सम्बन्धी, जिसके अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक कारण भी थे, (ग) सामाजिक कारण जिस में आर्थिक, राजनैतिक, उम्र, लिंग, शिक्षा धर्म इत्यादि शामिल है। उनका सबसे मशहूर सिद्धान्त *The law of criminal saturation* है। इसमें यह दिखलाया गया है कि सामाजिक परिस्थितियों के बदलते ही अपराध भी बदलते हैं। शास्तिविज्ञान (*Penology*) की दिशा में उन्होंने सज़ा तथा सज़ा के सब तत्समों (*Substitute*) के सम्बन्ध में उपकरण का संग्रह किया, और इस प्रकार अपराधी में स्वतंत्र इच्छा को बिना घसीटे ही उन्होंने न्याय का एक सिद्धान्त बना दिया, इसको वे *Theory of social accountability* कहा। उनकी सज़ा के सिद्धान्त में अपराध को पहिले से रोकने को अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया। अपराध को रोकने के लिये जो उपाय वे बताते हैं उनमें ये हैं—खुला व्यापार (*free trade*), व्यापार में एकाधिपत्य का त्याग, कुछ टैक्सों को उठा देना जिनके कारण आन्दोलन होता है, बैंक के नोटों की जगह पर सोने और चाँदी का इस्तेमाल, (इस प्रकार नोट बनाना बन्द हो जायगा), मज़दूरों के लिये सस्ते घर, बीमारों तथा अपाहिजों

के लिये अस्पताल, सार्वजनिक सेविंग बैंक, चौड़ी सड़कें और अधिक रोशनी जिससे अपराध बहुत कठिन हो जायँ, जन्म-निरोध जिससे गर्भपात तथा भ्रूणहत्या की कमी हो; विवाह, विवाह के बाहर उत्पन्न बच्चों को गोद लेने के सम्बन्ध में, प्रतिज्ञा भंग तथा विवाह-विच्छेद के क़ानून में सुधार साथ ही उन्होंने यह कहा कि बैंक, कम्पनी, तथा व्यापार पर सरकार का अधिक नियन्त्रण हो, शस्त्र केवल सरकार बनाये, पादरियों की शादी हो, जनता के मन बहलाव का उपाय सरकार करे, अनैतिक प्रकाशनों को बन्द किया जाय, विख्यात अपराधियों के मुकद्दमे छापे न जायँ इत्यादि ❀

गारोफ़ालो

गारोफ़ालो के मत का उल्लेख पहिले ही आ चुका है। उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें यह हैं। वे १८५२ में नेपलस में पैदा हुए। डार्विन और स्पेन्सर ने जीवविज्ञान में जिस (*law of adaptation*) या परिस्थितियों में खपने का नियम चलाया, उसीको गारोफालो अपराध विज्ञान में चलाते हैं। वे कहते हैं यदि कोई व्यक्ति किसी के घर बुलाये जाने पर ठीक व्यवहार नहीं करता तो वह फिर नहीं बुलाया जाता, या निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार समाज उनको निकाल देता है जो अपने को उसमें खपा नहीं पाते। यह निकालना तीन प्रकार से हो सकता है (१) मृत्युदंड, (२) आंशिक बहिष्कृति जैसे कैद या कालापानी भेजकर (३) क्षतिपूर्ति। गारोफालो के अनुसार ये ही सज़ायें हैं, इसलिये इस सिद्धान्त को (*law of adaptation*) न कहकर डाक्टर गिलिन (*law of elimination*) बहिष्कृति का सिद्धान्त कहना पसन्द करते हैं।

❀ *Criminology and penology by Dr. Gillin.*

इन थोड़े से विद्वानों के मतों के पृथक उल्लेख का प्रयोजन था, इसलिये इनका पृथक उल्लेख किया गया, किन्तु जैसा कि पाठक ने देखा होगा आधुनिक अपराध-विज्ञान इनके सिद्धान्तों से कहीं आगे बढ़ गया है। मैं समझता हूँ अपराध-विज्ञान को (*positive, classical, neo-classical*) आदि स्कूलों में विभक्त न कर इन पर्यायों में बाँटना अधिक ठीक होगा, विज्ञान की दृष्टि से भी, ऐतिहासिक दृष्टि से भी।

(१) वे जो अपराध पर दृष्टि डालते हैं।

(२) वे जो अपराध से कहीं अधिक अपराधी पर दृष्टि डालते हैं।

(३) वे जो अपराधी जिस समाज में है उसको देखते हैं, और उसीको सुधारना चाहते हैं।

ये तीनों अपनी दृष्टि के अनुसार दवा की भी तजवीज़ करेंगे। कहना न होगा कि इनमें से तीसरा स्कूल सबसे अधिक वैज्ञानिक है। इस पुस्तक में सभी मत के लोगों का ज़िक्र आ चुका।